विचार बोध

केदारनाथ अग्रवाल

विचार बोध

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-218-8

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद–3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2010

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर–संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद–2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद–3

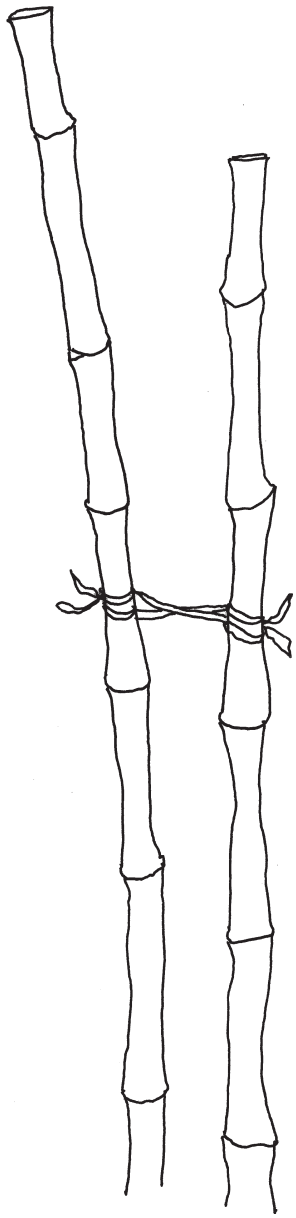

मूल्य : 250.00 रुपये मात्र

विचार बोध

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2010

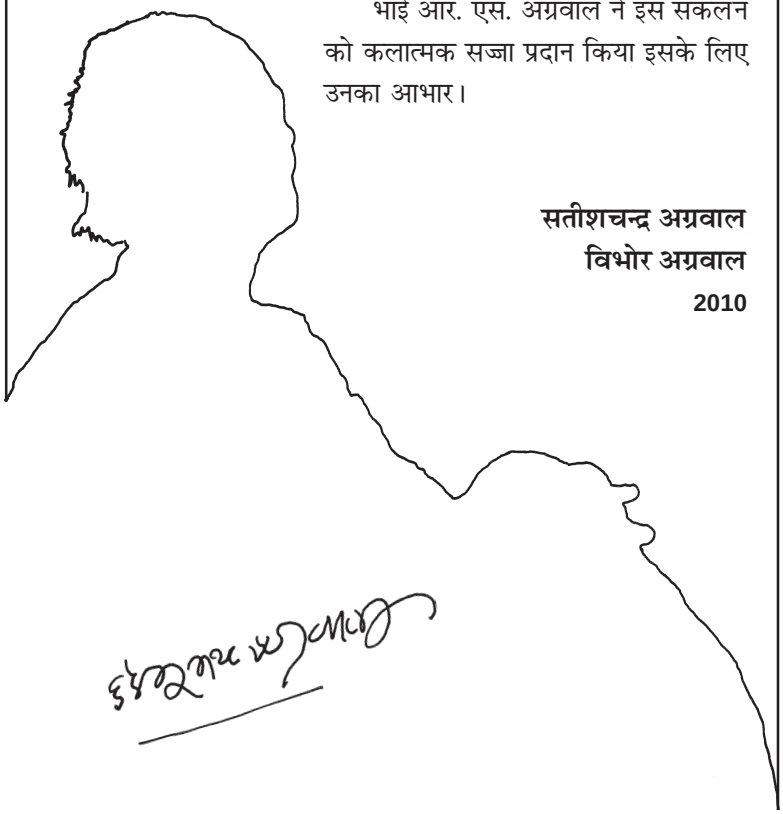

अनुक्रम

साहित्य-संदर्भ	**7-144**
मेरी कविता-यात्रा	9
कालिदास की कविता और मैं	12
लोक-जीवन से उद्‌भूत तुलसी की चेतना आज के संदर्भ में	15
रामायण के संदर्भ में तुलसी की कर्मपक्षीय चेतना	22
कवि प्रेम के अमरगायक-योद्धा हंगरी के सैंडरपेटाफी	25
कविता के बारे में	38
गीत : अपने ऐतिहासिक विकास-क्रम में	41
बौद्धिकता और कविता	53
आज के संदर्भ में कविता की अर्थवत्ता	59
आम आदमी और कविता	63
प्रगतिशील कविता : परम्परा और नवीनता	66
संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति : कविता	74
आत्मस्वातंत्र्य : दिशा और दृष्टि	85
समाजवादी समाज में लेखक का दायित्व	88
साहित्यकार का सामाजिक दायित्व	91
सही बयानी और सम्बद्धता	97
कवि सम्मेलनों में जनता और कवियों के संवाद की स्थिति	104
कविताएँ त्रिलोचन की	111
अनुवाद के सन्दर्भ में मौलिकता	123
सत्य के समर्थ और साहसी व्यंगकार : हरिशंकर परसाई	127
तीन संस्मरण	**145-162**
पढ़ीस जी : एक याद	147
मेरे प्रियकवि 'निराला'	149
मेरा दोस्त : रामविलास	154
दो भाषण	**163-184**
प्रगतिशील साहित्यकारों से-	165
बाँदा सम्मेलन : कुछ सवाल-कुछ सुझाव	175

साहित्य-संदभ

मेरी कविता-यात्रा

लड़कपन की बात है। जून, सन् 1921 ई० तक मेरी उम्र के 10/11 वर्ष मेरे गाँव 'कमासिन' में बीते। तबतक मेरी इंद्रियों के देवता—मेरी ही तरह—आस-पास के कामकाजी संसार के दाँव-पेंच से और उसके यथार्थ और आदर्श से नितांत अछूते रहे। खाना-खेलना पसंद था—यही जानता था—कला-वला क्या होती है, ऐसा कुछ नहीं जानता था। इसके बाद अंग्रेजी पढ़ने रायबरेली भेजा गया। तब बच्चों की बाल-पत्रिका 'शिशु' जो इलाहाबाद से प्रकाशित होती थी—पढ़ने लगा। वह इलाहाबाद में डॉ० रसाल के भतीजे श्री चन्द्रमौलि शुक्ल से ही मिला करती थी। जब मैं रायबरेली जाते-आते समय इलाहाबाद में रुकता और उनके ऊँचामंडी वाले घर में उनसे मिलने जाता। उनसे मेरा सम्बन्ध पुराना था। रसाल जी के पिता सपरिवार मेरे गाँव में मिडिल स्कूल के हेडमास्टर रह चुके थे। इससे उनके परिवार के सदस्यों से घनिष्ठता थी।

'शिशु' में छपी कविताएँ मुझे प्रिय लगती थीं। मैं उनके फेर में पड़ गया। यहीं से—तभी से—मेरा लगाव कविता से हो गया। फिर तो मुझे वे कवित्त, सवैये भी अच्छे लगने लगे। जिन्हें मैं अपने पिता जी के कंठ से निःसृत होते सुना करता था। वे ब्रजभाषा के पुराने कवियों के प्रसिद्ध छंद होते थे। धीरे-धीरे कविता के मेरे संस्कार बनने लगे और उत्तरोत्तर पक्के पड़ने लगे। नतीजा यह हुआ कि मैं पद्माकर वगैरह की किताबें स्वयं भी पढ़ने लगा। समझ तो पाता नहीं था, लेकिन उनसे चिपका रहता था। एक प्रकार की तुष्टि मिलती थी। मन में एक नया भाव-लोक बनने लगा था। अतएव मैं अब कविता की पहचान से नयी आँखें पाकर, अपने नये इंद्रिय-बोध से आस-पास के अपने गाँव के संसार को कुछ उसी प्रकार से देखने-पकड़ने लगा था, जिस तरह से उसे कविगण देखते-पकड़ते थे। ब्रजभाषा का माधुर्य और लालित्य कुछ ऐसा नशीला और रसीला साबित हुआ कि तब खड़ी बोली की ओर खिंच ही नहीं सका। मुझे अच्छी तरह याद है कि नवीं-दसवीं कक्षा तक तो मेरे ऊपर ब्रजभाषा का पूरा भूत सवार था। इलाहाबाद में रहता था। डॉ० रसाल की वजह से तब के तमाम प्रसिद्धि प्राप्त कवियों के मुख से उनकी सरस कविताएँ सुनता रहता था। रत्नाकर जी के कंठ से उनकी रचनाएँ सुनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। उन दिनों 'उद्धव-शतक' की भूमिका लिखी जा रही थी। रसाल जी लिख रहे थे। रत्नाकर जी उनके घर आते थे। मैं अलग वहीं बैठा, उन दोनों के बीच चल रही काव्य-चर्चा का रस लेता रहता था। वे दिन आज भी याद आते हैं तो जैसे जी में जान पड़ जाती है, जैसे जुगनू को चमकते देख कर महाकवि एकबाल ने कभी कहा था : 'एक जान पड़ गई है महताब की किरन में'।

इसी ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों ने मुझे यानी मेरे युवा हो रहे केदार को वह रुझान दी कि मैं मानवीय रूप-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होने लगा और उसे देख-देखकर मन-ही-मन सराहने लगा। पहले की जानी-पहचानी दुनिया धूल-धक्कड़ की दुनिया-धूप-छाँह की दुनिया—अब अधिक खूबसूरत हो गई। साधारण शरीर की साधारण कुमारियाँ काव्य-कुमारियों के रूप में बदल गईं। मुझे उनके अंग-प्रत्यंग में वे रूपक और अलंकार दिखने लगे जो पढ़ चुका था, पर जिन्हें किसी की देह-यष्टि में देख नहीं सका था। कविता ने मुझे सौन्दर्य-प्रेमी बनाया। मैं भी प्रेम और सौन्दर्य के साक्षात्कार को कविता की पंक्तियों में कुछ-कुछ अपने ढंग से, जगाने और जिलाने लगा। पहले यह अभिव्यक्ति ब्रजभाषा में चलती रही, फिर बाद को खड़ी बोली में। मुझे अच्छी तरह से स्मरण है कि 'प्रियप्रवास' के भाषा-प्रवाह ने और उसके संस्कृत छंदों ने मुझे बेहद अभिभूत किया था और मैं उसे पढ़-पढ़कर और अपने पिता जी से सुन-सुनकर ब्रजभाषा से टूट चला था और खड़ी बोली के निकट—अधिक निकट हो चला था। संयोगवश तभी 'इंडियन प्रेस' से सुमित्रानन्दन पंत का काव्य-संकलन—'पल्लव'—सचित्र प्रकाशित हुआ। वह मुझे ईविंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद, की लाइब्रेरी में मिल गया। मैं उसे पढ़ता था और उसके छंदों के साथ उनकी लय और पुकार में अपना सब-कुछ भूल जाता था और पता नहीं क्या-क्या और कैसा-कैसा उनसे उपलब्ध कर लेता था। 'पल्लव' ने ऐसा कुछ किया कि मेरी ब्रजभाषा की नगरी और नागरी मुझसे सदा-सदा के लिए बिछुड़ गई और मैं सौ फीसदी खड़ी बोली का हो गया—उसके हाथ बिक गया। और आगे चलकर जब कभी-कभार पीछे मुड़कर देखता तो दूर-बहुत दूर-बहुत धुँधली-सी ब्रजभाषा की वह नगरी और नागरी दिखाई देती और फिर सब-कुछ निराकार हो जाता।

खड़ी बोली तो मिल गई। परन्तु कविता मिलना शेष था। मैं तब के कवियों की रचनाएँ पढ़ने लगा। 'माधुरी'-'सरस्वती'-'चाँद' और 'विशाल भारत' पढ़ने लगा। मेरे संस्कार खड़ी बोली की कविता के बनने लगे। उसके छंदों से मेरी मित्रता हो गई और वह प्रगाढ़तर होती चली गई। तभी एक महाशक्ति का चमत्कार देखने को मिला। निराला की कविता ने मुझे अपना बना लिया। मुझे उसमें सौन्दर्य का वैसा ही अनूठा रूप-विहार मिला, जैसा संस्कृत के महाकवियों की कविताओं में मिला करता था। कष्टसाध्य होते हुए भी—देर में समझ में आ सकने पर भी मैं उसे पढ़-पढ़कर उसकी विभोर कर देने वाली कलात्मकता का कायल हो गया। अब युग और यथार्थ का ज्ञान भी हो चला था। इसलिए निराला की वाणी में मुझे युग और यथार्थ की संवेदनशील झलकियाँ भी मिलने लगीं। पंत जी की तबकी रचनाओं से मुझे प्रकृति के प्रति अनुराग की प्रेरणामात्र मिल सकी थी। निराला की कविताओं से परुष पौरुष मिला। मेरी आँखों ने युग और यथार्थ में भी, कुरूप में भी, श्रम की सृष्टि में भी कविता देखना शुरू कर दिया। मेरी वाणी संस्कृत-निष्ठ होने के बजाय खड़ी बोली के मूल स्वभाव के अनुकूल अपना निखार और सँवार करने लगी।

यह सब-कुछ मेरी कविता की यात्रा में जाने-अनजाने चलता चला गया। मैं इलाहाबाद-कानपुर में रह-रहाकर वहाँ के शहरी प्रभाव ले-लिवाकर, वकील होकर सन् 1938 में बाँदा आ गया। तब से आजतक कचहरी में आदमी-आदमी को आदमी के धरातल पर जीता, समझता और परखता हूँ और उसकी और अपनी स्थिति से प्रभावित हो-होकर कविता लिखता हूँ। यही वजह है कि मैं जो कुछ लिखता हूँ वह ठोस यथार्थ से उद्‌भूत होता है और मेरी वाणी में युगीन स्वरों के द्वारा अभिव्यक्त होता है। परम्परा मैंने तोड़ी है, नये को पाने के लिए। नये को मैंने जीवन से जोड़ा है। मेरे नये से जिया हुआ जीवन बोला है। भले ही वह पूर्णांश में कला की चरम उपलब्धि न हो। मैंने कविता को जीवन से अलग नहीं रक्खा। इसीलिए मैं अपने मस्तिष्क के एकाकी केन्द्रों से कविता लेआने की फिकर में नहीं रहा। मैंने कविता को संसार की वस्तुवत्ता से पाया है और उससे आत्मपरकता स्थापित की है और उसी आत्मपरकता को संसार के सामने उसकी सम्प्रेषणीयता के लिए समर्पित भी किया है। मेरी कविता तभी तक मेरे अकेले की रहती है, जबतक वह मेरी कापी में लिखी रहती है। लेकिन जब वह छपकर प्रकाश में चली आती है, तब वह उतनी ही दूसरों की हो जाती है, जितनी मेरी होती है। तब मैं भी उससे सम्प्रेषणीयता की अपेक्षा रखता हूँ। मुझे दुनिया के तमाम कवियों ने प्रभावित किया है। मैंने तमामों से बहुत कुछ सीखा है। लेकिन मैंने किसी का कुछ चुराया नहीं है। इस बात का ध्यान बराबर मुझे रहा है कि जो कुछ दूँ हिन्दी के विकास के लिए दूँ और ऐसा दूँ जो न दिया गया हो, लेकिन वह ऐसा भी न हो कि केवल मेरा मनोवैज्ञानिक मनोविकारमात्र हो जो किसी दूसरे की पहुँच से परे हो और जिसका उपयोग कुछ भी न हो। मैंने फैशन के लिए कविता नहीं लिखी। हाँ, आजकल जो सीख रहा हूँ वह भी मेरे बौद्धिक विकास का परिणाम है। मैंने बने-बनाये साँचे तोड़े हैं। मेरी हिन्दी दुराग्रही हिन्दी नहीं है। वह जब छंद छोड़ती और तोड़ती है तो इसलिए कि कथ्य उभारकर, संश्लिष्ट इकाई बनाकर प्रस्तुत किया जा सके। यही है संक्षेप में मेरी कविता-यात्रा।

❐

कालिदास की कविता और मैं

कालिदास की कविता मुझे अच्छी लगती है, क्यों? मैं वकील हूँ—38 वर्षों से अदालती दुनिया को देखता आया हूँ और वहाँ हो रहे 'न्याय' नामक नाटक के 'चरित-नायकों' से भरपूर परिचित हूँ और यह पूरी तरह जानता हूँ कि सत् और असत् के हो रहे संघर्ष में प्रायः सत् ही हारता और असत् ही जीतता है—फिर भी यह नाटक होता ही रहता है और इस नाटक के बिना जीना मुहाल है। ऐसे लम्बे अर्से में तो मुझे ऐसा हो जाना चाहिए था कि मानव-जीवन के कलात्मक तत्त्व मेरे लिए कोई अर्थ ही नहीं रखें। मेरा सौन्दर्य-बोध, मेरी संवेदनशीलता, मेरी सम्प्रेषणीयता और मेरी रचना-धर्मिता और ऐसा ही सब-कुछ समाप्त हो जाना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हुआ। इसलिए ऐसा नहीं हुआ क्योंकि बचपन में ही कविता के प्रति मेरे मन में घनिष्ठ आत्मीयता स्थापित हो चुकी थी। आत्मीयता के वे संस्कार, वकील होने पर भी, नहीं गये—नहीं गये। मैंने अपनी वकालत को अपने काव्य-बोध के संस्कार को मारने नहीं दिया। अतएव मैं घोर यथार्थवादी व्यक्ति होकर भी आजतक कविता का प्रेमी बना हूँ। कालिदास की कविता मेरे बचपन के उन संस्कारों के अनुरूप पड़ती हैं, इसलिए मैं उनकी कविता पढ़ता हूँ और पढ़ कर उसकी सराहना करता हूँ।

भले ही कालिदास की कविता आज के युग की, जनता की कविता न हो—भले ही वह राजसी वैभव-विलास और काम-कला की कविता हो—भले ही वह अपने कवि के युग की समस्त काव्य-रूढ़ियों से भी अछूती न हो—भले ही वह विद्वानों के पाण्डित्य-प्रदर्शन को भी अपनाये हो—भले ही वह मुक्त-मानव की निश्छल चेतना की अभिव्यक्ति न हो—फिर भी वह कुछ ऐसे गुणों से गुम्फित है कि मेरा मानव-मन उन गुणों की वजह से उसपर रीझ-रीझ जाता है।

कालिदास की कविता पढ़ते-पढ़ते मैं उनके छन्दों के स्वरों को—यानी उनकी आवाज को—सुनता चलता हूँ और सुनते-सुनते मुग्ध होने लगता हूँ और फिर छन्दों को हथेलियों से बार-बार ऐसे टटोलने लगता हूँ, जैसे वे रंग-बिरंगे, आकर्षक, चिकने—सुख देनेवाले—शंख हों। निश्चय ही उनके छन्द प्रबल इन्द्रिय-बोध के छन्द हैं। वे सब संगठित सौन्दर्य की अखण्डित मूर्तियाँ हैं। उनके चरणों में बँधे, स्वर-सधे व्यन्जन वैसे ही बजते हैं, जैसे रंगमहल में उतर आयीं अप्सराओं के चरणों के नूपुर निनादित होते हैं, मनोभावों की अभिव्यक्ति में। एक-एक छन्द के एक-एक कमल पर भँवरों की भीड़ लग जाती है और गुंजार होने लगती है। बाह्य-संसार का रूप ही बदल जाता है। उस बदले रूप में बहुत-कुछ अनदेखा—अनजाना—अनअवगत व्यक्त हो जाता है। वह नया व्यक्त

हुआ रूप मेरे इन्द्रिय-बोध को सक्रिय कर देता है और मेरे मस्तिष्क में रचना का वही रूप प्रतिबिम्बित हो जाता है। वास्तव में कालिदास के छन्द, छन्द नहीं, वरन् दृश्य और अदृश्य के चित्र -फलक बन जाते हैं। छन्दों का पूरा व्यक्तित्व शब्द और अर्थ की निष्पत्ति में समाहित हो कर कविता को साकार कर देता है। जैसे कविता-किसी साँचे में ढलकर निकल आयी हो।

मैंने बार-बार यह अनुभव किया है कि कालिदास की कविता वैसे ही प्रस्फुटित होती है, जैसे वृन्त पर रंग-बिरंगा फूल—जैसे मृणाल पर कई पंखुरियों का कमल। कभी-कभी यह भी प्रतीति हुई है कि छन्द नहीं किसी की आँखें खुली हैं, जिन्हें देखते रह जाना होता है।

कालिदास की कविता का सर्वाङ्ग सुन्दर है। वह अपने छन्द में किसी एक शब्द या चरण या एक लय में नहीं रहती—वह तो सिर से पैर तक सौन्दर्य की ईकाई में प्रतिष्ठित रहती है।

कृतित्व के स्तर पर कालिदास की कविता जब रघुवंश के निरूपण में निरत होती है, तब राजकीय स्वर और स्वभाव की हो जाती है। उसे रूढ़ि भी रूढ़ि नहीं लगती जब वह उस वंश की काव्यात्मक और कलात्मक अभिव्यक्ति करने लगती है। वह अपना सहज मानवीय संस्कार त्यागकर बन-सँवर कर प्रकट होती है और राजकीय परम्परा का पूर्णरूपेण परिपालन करती है। वही कविता जब राजकीय मर्यादा से बाहर निकलकर शिव और पार्वती के समीप पहुँच जाती है और 'कुमारसम्भव' में उनके भोग-सम्भोग को निरूपित करने लग जाती है, तब वह कोई 'अश्लील' अथवा 'वर्जन' या 'निषेघ' नहीं जानती और न ही अपने उस निरूपण में उन वर्जनाओं की परवाह करती है, जो मानव-समाज में आदमियों के लिए आवश्यक समझी गयी हैं। वही कविता जब 'मेघदूत' में यक्ष का सन्देश बन कर उसकी प्रिया तक जाती है तब प्रकृति का परिवेश बन जाती है और विरह की व्यञ्जना से व्यथित भावोद्रेक करती है। लेकिन अपने पार्थिव व्यक्तित्व में तब भी वह राजकीय काव्य-रूढ़ियाँ लिये रहती है और उन्हें अलंकरण की तरह प्रदर्शित करती रहती है। फिर भी जहाँ मुक्त होकर खुल पड़ती है, वहाँ नैसर्गिक हो जाती है और अब भी मोहती रहती है। 'ऋतुसंहार' में भी यही देखने को मिलता है। नाटकों में भी उनकी कविता का यही हाल है।

कालिदास की अपनी युगीन सीमाएँ थीं। उन राजकीय सीमाओं के भीतर रहकर उन्होंने कविता को एक तरफ राजकीय बनाया और दूसरी तरफ लोकजीवन से सम्बद्ध करके उसे मानव की भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति में लगाया। इसलिए कालिदास की कविता रजोगुण से भी अभिभूत है—और सहज मानवीय संवेदनाओं से भी प्रतिभूत है। इसलिए वह विद्वानों की भी कविता है और साधारण मनुष्यों की भी। इसलिए वह आजतक जीवित है।

यदि आज के इस नये 'हिप्पी-आन्दोलन' के सन्दर्भ में 'कुमारसम्भव' को आदिम मनुष्य की आदिम काम-प्रवृत्तियों का काव्य-ग्रन्थ कहा जाय तो मानना पड़ेगा कि कालिदास के मन में, उस अपने युग में भी, आज के मानव-मन का काम-बोध विद्यमान था। तभी इस निर्बन्ध, अमर्यादित काम-बोध का चित्रण वह शिव-पार्वती के माध्यम से कर सके। यही क्या कम है कि उन्होंने आदि -देव की आदिम वासनाओं को आम-आदमी की वासनाएँ बनाकर प्रस्तुत नहीं किया। शिव में आदि वासनाएँ निवास करती हैं। वही उन वासनाओं की तृप्ति में लीन होते हैं। वह आदि-पुरुष हैं और पार्वती आदि-स्त्री हैं, इसलिए स्त्री-पुरुष का वैसा मिलन नैसर्गिक था। भोगवाद की यह व्यञ्जना दार्शनिक स्तर पर भले ही उचित समझी जाये, लेकिन जीवन के स्तर पर काम-वासना का ऐसा निरूपण किसी भी प्रकार से औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। शायद कालिदास की प्रतिभा राजकीय स्वभाव से सम्बद्ध और सम्पृक्त होने के कारण ही शिव और पार्वती के भोग-सम्भोग को पूरी छूट के साथ व्यक्त कर सकने में सक्षम हुई, शायद यह भी हो कि तब काव्य के सृजन के लिए मर्यादा की कोई सीमा न मानी जाती रही हो। अस्तु !

मैं कालिदास को महाकवि मानता हूँ और उनकी निरंकुशताओं के बावजूद उन्हें स्थायी काव्य-मूल्यों का श्रेष्ठतम् कवि मानता हूँ।

❐

लोक-जीवन से उद्‌भूत
तुलसी की चेतना आज के संदर्भ में

'मरकर भी नहीं मरे बाबा तुलसीदास' अपनी कविता की बदौलत जो चार सौ साल से बराबर जीती चली आ रही है और उन्हें भी आजतक अपने साथ जिलाये हुए है; यही सत्य इस बात का प्रमाण है कि यह कविता कालजयी है।

कालजयी कविता में लिखी रामायण घर-घर में पढ़ी जाती है। अन्य किसी काव्य-ग्रन्थ का इतना प्रचार और प्रसार नहीं हुआ; जितना इसका हुआ है। मार्के की बात तो यह है कि समाज के सभी स्तरों को भेदकर यह जन-मानस में अत्यधिक गहरे प्रवेश कर गई है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं बचा, जो इसके प्रभुत्व और प्रभाव से अछूता रह गया हो।

छोटा हो या बड़ा, विद्वान हो या मूढ़, दार्शनिक हो या दुनियादार, भक्त हो या ज्ञानी, रागी हो या विरागी, स्वामी हो या सेवक, राजधर्मी हो या प्रजाधर्मी, नैतिक हो या अनैतिक, निंदक हो या प्रशंसक, संत हो या असंत, कर्मी हो या अकर्मी, जहाँ जो है; वह इसे (रामायण को), अपने जीवन के किसी -न किसी छोर पर, सहारा या सम्बल के लिए उसी तरह पकड़े हुए है, जैसे हारिल (पक्षी) लकड़ी पकड़े रहता है। इसके बिना तो जैसे कोई आदमी जीता ही नहीं ! यह काव्य का ग्रन्थ न होकर जीवन का ग्रन्थ हो गया है।

हिन्दी-भाषी क्षेत्र में तो इसे सार्वभौम प्रभुसत्ता प्राप्त है। अहिन्दी क्षेत्रों में भी इसे महती महत्ता मिली है। वहाँ भी इसका पारायण होता रहता है।

देश से बाहर, विदेशों में भी इसके अनुवाद प्रस्तुत हुए हैं। यह विश्व की प्रमुख भाषाओं का ग्रन्थ बन गया है।

इसी रामायण की, जब यह रची गई थी, तब विद्वानों ने–साहित्य और संस्कृति के पुंगवों ने काव्य का ग्रन्थ मानने से इनकार कर दिया था। प्रशस्ति के बजाय इसे उनसे अपमान ही मिला था। आज युग और युग के लोग इसके प्रबल पक्षधर हो गये हैं और इसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते।

प्रशंसा कालिदास के 'रघुवंश' की भी होती है। उस महाकाव्य को काव्य के सुधी मर्मज्ञजन श्रेष्ठ महाकाव्य मानते हैं और कंठस्थ कर लेने पर अपने को धन्य समझते हैं। निस्संदेह उस ग्रन्थ की भी महती महत्ता है। लेकिन उसकी तुलना में भी रामायण बाजी

मार ले जाती है और उसे दूर–बहुत दूर–पीछे छोड़ जाती है। बाजी मार ले जाने का बड़ा ठोस कारण है। 'रघुवंश' केवल रघुवंशियों का महाकाव्य होकर उनकी ही प्रशस्ति का गौरव-ग्रन्थ बनकर रह गया है। रामायण महाप्रतापी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र का महाकाव्य होकर भी केवल उन्हीं की प्रशस्ति का गौरव-ग्रन्थ नहीं है; बल्कि राम के चरित्र के बखान के माध्यम से जनसाधारण के जीवन का अपरिहार्य और अनिवार्य लोक-ग्रन्थ बन गया है। जब जनता 'रामचरितमानस' को पढ़ती है, तब महापुरुष राम के चरित्र को तो देखती ही है; लेकिन उसके साथ-साथ उस चरित्र के मानवीय मूलाधारों से अपने को सम्बद्ध भी करती चलती है और जग में जी सकने की क्षमता का अनुभूत ज्ञान भी संचित करती चलती है। तभी तो राम सबके घट-घटवासी राम बन गए हैं। तुलसीदास ने अपने राम के चरित्र के इतने-इतने, अनेकानेक, बहुमुखी पक्ष उजागर किए हैं और इस तरह जनजीवन से सम्पृक्त करके उजागर किए हैं कि राम का चरित्र मानवमात्र का चरित्र बन गया है। ऐसा लगता है जैसे राम अपना जीवन जीते-जीते सबका जीवन जीने लगते हैं। ऐसा लगता है जैसे राम राज-परिवार का जीवन नहीं जीते, बल्कि साधारण आदमी के सुख-दु:ख का जीवन जीते हैं। राम वैसे ही भोग्यमान भोगते हैं, जैसे आम आदमी भोगते हैं। तुलसी बाबा ने अपने आराध्य के चरित्र की राजकीयता पर बल देते हुए भी बल नहीं दिया, बल्कि राजकीयता से वंचित कर दिए गए राम के उदात्त मानवीय गुणों से परिपुष्ट चरित्र को ही सबके लिए सुलभ कर दिया है कि विमल विवेक के इस दर्पण में हरेक अपना प्रतिबिम्ब देख सके और राममय होकर वैसे ही जीवन जिये, जैसे भाग्य-मान भोगते राम जी सके।

मेरे लिए यह सदैव ही एक बड़ी उलझी हुई गुत्थी रही है कि सीताहरण के बाद तुलसी के राम अपने अवधवासियों से, अपने राज-परिवार वालों से अपनी फौज-फाटा से सहायता क्यों नहीं माँगते–वे न माँगते तो अवधवासी या रघुवंशी या राज्य की फौज-फाटा का तो यह धर्म था कि वह अपने प्रिय राम को अयाचित सहायता देते या देती। लेकिन उन सबसे किसी प्रकार की सहायता मिलने की बात भी तुलसीदास ने कहीं नहीं उठाई। मैंने बहुतों से पूछा। जितनों से पूछा उतनों ने यही बताया कि राम भगवान् थे–उन्हें उनकी सहायता की जरूरत न थी–वह स्वयं रावण को मारकर सीता को वापस ले आने में सक्षम थे। मुझे इस प्रकार के उत्तर से कभी संतोष नहीं हुआ। मेरा प्रश्न मेरे सामने हमेशा ही आकर खड़ा हो जाता रहा है और मैं बौद्धिक होने के नाते, इस शंका का समाधान खोजने के लिए , अपने दुनियाई ढंग से ही विचार करता रहा हूँ और अवध की जनता और उसके राज-परिवार को राम के विरुद्ध षड्यंत्र करने का दोषी ठहराता रहा हूँ और इसलिए यह भी मानकर चलता रहा हूँ कि राम ने अपनी आत्मरक्षा में वनवासी होना स्वीकार किया था और सीता को लेकर लक्ष्मण के साथ चौदह वर्ष की लम्बी अवधि तक जंगल-जंगल की धूल फाँकते फिरे थे। परन्तु अब आज मेरी शंका का समाधान मिल गया है और अब मैं यह जान गया हूँ कि क्यों तुलसीदास ने राम के लिए वैसे घोर संकट के समय अवध से किसी प्रकार की मदद पहुँचाने की कल्पना तक नहीं

की। सत्य साफ दिख रहा है। महाकवि, राम को, संकट में पड़े आदमी की तरह, चित्रित करना चाहते थे। यही किया भी उन्होंने। यही उचित भी था। अगर राम वहाँ–वनवास में –राजा राम या युवराज राम की तरह संघर्ष का सामना करते तो अवश्य ही वह अवध से हर प्रकार की मदद लेते। फिर तो वह साधारण आदमी का जीवन न जीते। तब राम राजपुरुष होते–साधारणजन के जीवन में उतर आये राम न होते। और तब रामायण भी 'रघुवंश' जैसा महाकाव्य मात्र होकर रह जाती और आज की इस व्यापक प्रशस्ति से वंचित रह जाती।

तुलसी की चेतना लोक-जीवन से उद्‌भूत चेतना थी। उनकी चेतना राजवंश से लालित-पालित चेतना न थी। वह कवि थे, विद्वान् भी थे, अपने महान् ज्ञानभंडार से भरपूर अवगत भी थे। तिसपर भी उनकी चेतना अपना काम अपने ढंग से करती रही। तब का–उनके युग का –लोक-जीवन उनकी चेतना में प्रतिबिम्बित हुआ और वह उसी प्रतिबिम्बन (Reflection) के आधार पर अपने राम का चरित लिखते रहे।

यह सच है कि अपने राम को वैसा चित्रित करते समय भी तुलसीदास ने राम को जगह-जगह पर भगवान् राम कहा है और उनको महान् दैवी गुणों से सम्पन्न दिखाया है तथा उनके समस्त चरित्र को अलौकिक आलोक से आलोकित किया है। इस बात से अवश्य ही भटकाव और भ्रम भी पैदा हुआ है। यह दुर्बलता बार-बार प्रकट हुई है। इस दुर्बलता की वजह से अब आज रामायण मानवीय चेतना के क्षेत्र से दूर जा पड़ी है और उसपर विचार करना या सोचना-समझना भी बंदकर दिया गया है। रामायण धर्म-ग्रन्थ बन गया है। धर्म-ग्रन्थ से बढ़कर ताबीज बन गया है, जिसके ग्रहण करने मात्र से भव-भय से मुक्ति मिल जाती है। यह तो हुई कम पढ़े-लिखे लोगों की बात। बड़े विद्वान् और विज्ञ-जन भी किसी दूसरे को इतनी छूट तक नहीं देते कि वह रामायण की कथावस्तु या उसके कथ्य या शिल्प को लेकर अपना बौद्धिक विचार व्यक्त करे और नयी दृष्टि से जाँच-पड़ताल करे और गलत-सही को प्रस्तुत करे।

कहा जा सकता है और सच भी यही जान पड़ता है कि तुलसी की कथा अपने सहज साधारण रूप में जन-जीवन की सहज साधारण चेतना थी; लेकिन इनकी यह चेतना पूर्णतया अन्य युगीन प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकी। तभी तो राम की कथा को बड़ों के मुँह से बड़ों को सुनाया गया बताया है तुलसी बाबा ने। तभी तो Law of primogeniture के विरुद्ध आवाज उठाने वाली कैकेयी को और आग में घी डालनेवाली मंथरा को महाकवि ने अच्छा नहीं कहा। राजवंश की परम्परा को यथावत् बनाये रखने की कामना से ही तो महाकवि उसका सबल समर्थन करते हैं, तभी तो महाकवि अपने को राम का सेवक घोषित करते हैं ; तभी तो राम की भक्ति को सराहते और प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने कहा भी है कि 'जाको प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।' तभी तो उन्होंने 'ज्ञानहि भक्तिहिं नहिं कछु भेदा' भी कहा है। यह समन्वय की नीति अपने असली अर्थ में यही व्यक्त करती है कि जहाँ जो है, वैसा चलता चला जाये–राजनीति या अर्थतंत्र में कोई परिवर्तन न किया

जाये—साधारणजन भी उसी व्यवस्था में उसीके अनुरूप जियें और मरें और अवसर आने पर भी चूँ-चपड़ न करें। तभी तो तुलसी भरत पर बलि-बलि जाते हैं। राम पर फूल बरसाते हैं।

ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि महाकवि को अपना जीवन भी ऐसे ही बिताना पड़ा था। वह भी आर्थिक दृष्टि से निरवलम्ब थे। घर-बार कुछ भी नहीं रह गया था। पत्नी का परित्याग कर ही चुके थे। एकाकी जीवन-यापन करते-करते वह यही निष्कर्ष निकाल सके कि जीवन का लक्ष्य राम की भक्ति से राम में लीन हो जाना है। कर ही क्या सकते थे इसलिए उनका चिंतन, मुक्त चिंतन न होकर श्रद्धा और भक्ति से बँधा चिंतन है। इसीलिए आज के युग में इसको, पूरा ज्यों- का-त्यों, स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, उसके उस पक्ष को अवश्य स्वीकार किया जा सकता है, जो मानवीयता का पूरा-पूरा बोध कराता है और आज की युगीन चेतना से जुड़ जाता है। मुझे परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में उसी पक्ष का समर्थन मिलता है। राम चुप रहते हैं। उनका राजतिलक होगा ही, वह राजा बनेंगे ही; इसलिए वह शील से सधे शालीन ही रह जाते हैं। परन्तु धनुष के तोड़े जाने पर वाद-विवाद में पड़े लक्ष्मण तो मुक्त मानव के मुख से बोलते हुए परशुराम से अपराजित ही रहते हैं और खुलकर सब-कुछ कहते हैं, जो-कुछ जितना कहा जा सकता था और जिसे राम नहीं कह सकते थे। तुलसी बाबा यहाँ जी खोलकर निर्भीक भाव से वाक्-युद्ध में संलग्न हुए हैं, देखते ही बनता है। यही है वह वाणी जो जनसाधारण का अमोघ अस्त्र हो सकती है। आज का बौद्धिक युवक उसी स्वर में अपने को परम्परा और प्रतिष्ठान के विरुद्ध स्थापित करने का बीड़ा उठाये हैं। रामायण का यह संवादस्थल भाषा की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। भाषा पूरी मुक्ति पाकर आज आक्रोश से भभक उठी है और व्यंग्य तथा प्रहार के वार करने लगी है। कहीं कोई प्रतिबंध नहीं रह गया है। पता नहीं, बाबा तुलसीदास में कहाँ से ऐसा मुक्त चिंतन जागा कि वह आज के युवक की तरह भभक उठे। शिव का धनुष तोड़ा गया था। उसे राम ने तोड़ा था। हो सकता है कि इसीलिए तुलसीदास लक्ष्मण के मुँह से परशुराम पर आग बरसा पड़े। वैसे यह तो सही है ही कि तुलसी राम के प्रति इतने श्रद्धालु हैं कि उनके किये काम के विरोध को वह एक क्षण भी बरदाश्त नहीं कर सकते। मालूम होता है कि भक्त ने अपने आराध्य के विवादी परशुराम को इसीलिए भरी सभा में लज्जित किया और फिर धनुष भी तो शिव का था, राम उसे न तोड़ते तो सीता कैसे पाते ? ऐसा न्याय तुलसी बाबा की दृष्टि में सर्वथा उचित ठहरता था। तभी तो वह शम्भु के धनुष तोड़ने पर कोई आपत्ति नहीं व्यक्त कर सके। शिव भी तुलसीदास को प्यारे थे, तभी राम के द्वारा रामेश्वरम् में शिव की स्थापना महाकवि ने जानबूझकर कराई कि शिव के उपासक धनुष तोड़े जाने की व्यथा को भूल जायें।

इसके अतिरिक्त जहाँ तुलसीदास की भाषा प्रतिबंधित रही है , वहाँ वह रीति के स्वभाव की होकर आगे-पीछे चली है। अलंकारिक भी हुई है, काव्यात्मक भी हुई है और ध्वनिपरक भी हुई है। सीता के रूप का वर्णन कुछ इसी प्रकार का है। उस वर्णन

की सराहना करते-करते लोग दुहरे हो जाते हैं। 'छबिगृह दीपसिखा जनु बरई' में आत्मा-परमात्मा का रहस्यवाद बिंबित देखते-देखते लोग-बाग नहीं थकते। पर मुझे तो यह रूप-वर्णन पिष्टपेषण ही मालूम होता है। औपचारिकता की अति हो गई है। सीता अलौकिक हो गई हैं। वैसे तो वे भूमिजा हैं। तुलसीदास भूल जाते हैं कि वह भूमिजा का रूप-वर्णन कर रहे हैं। सम्भवत: उनके आराध्य की प्रिया होने वाली सीता का ऐसा रूप-वर्णन ही उन्हें औचित्यपूर्ण लगा था। राम राजकुँवर थे। गद्‌दी पर बैठते। इसीलिए उनकी जीवनसंगिनी भला लौकिक कैसे रह सकती थी और उनका लावण्य भला कैसे लौकिक रह सकता था। अत: बाबा तुलसीदास ने सीता के रूप को प्रकाश में चढ़ा दिया और सौन्दर्य से भी सुन्दर बना दिया अन्यथा भूमिजा—मानवी—कैसे भगवान् की धर्मपत्नी बन सकती थी। उन्हें तो छबि को भी छबि देनेवाली होना ही चाहिए। वही किया भी बाबा तुलसीदास ने उनके रूप-वर्णन में। जैसे आदमी मुक्ति चाहता है, वैसे भाषा भी मुक्ति चाहती है। जहाँ मुक्त नहीं होती, वहाँ भाषा और मनुष्य दोनों ही, अपनी सहज-स्वाभाविक शक्ति-सम्पन्नता खो देते हैं और किसी दूसरे के इशारे पर वैसे ही नाचते हैं, जैसे वह नचाता है। रावण और अंगद के संवाद में भी तुलसी की भाषा खुली है। परन्तु वहां की उस भाषा का स्तर, परशुराम-लक्ष्मण के संवाद की भाषा के स्तर से नीचे रह गया है।

वैसे भी देखा जाय तो रामायण की कथा-वस्तु का वही प्रमुख अंग है, जो राम के वन-गमन से शुरू होता है और लंका-विजय तक जाता है। इस काल के राम राजाराम नहीं हैं और न ही उस तरह आचरण करते हैं। दूसरे लोग—वनवासी लोग—अन्य जातियों के सम्पर्क में आनेवाले और सहाय्य होने वाले लोग—भले ही मानवीय राम को दैवी राम के रूप में देखने का लोभ संवरण न कर सके हों। अहिल्या शापवश शिला हो गई थी। राम ने उसे अपने चरण-स्पर्श से पुन: नारी के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह काम साधारण मनुष्य नहीं कर सकता था। बाबा तुलसीदास ने ऐसा क्यों किया और क्या ऐसा कराने में वह राम को नर नहीं नारायण मानते थे ? यह प्रश्न उचित ही है —शंका उचित ही है। यही तो महाकवि की चेतना की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती है। इसी प्रतिबद्धता में बँधे हुए तुलसी बाबा राम को, मूलरूप से नर मानते हुए भी, नारायण कह-कहकर पुकारने लगते हैं। लेकिन इस प्रतिबद्धता से रामायण की प्रमुख कथा-वस्तु का मानवीय स्वरूप किसी प्रकार विनष्ट नहीं हुआ। कथा-वस्तु का मानवीय स्वरूप इस विशद और विस्तृत आकार-प्रकार से जीवन के धरातल पर व्यक्त हुआ है कि उसे ही सर्वोपरि स्थान देना होगा, न कि राम के दैवी रूप के गुणों के बखान को, जो रह-रह कर स्थान-स्थान पर मुखरित होता रहा है। रामायण का पाठक मानव राम के चरित्र से इसलिए प्रतिभूत होता है, क्योंकि वह उसे जीवन के साथ जुड़ा हुआ मिलता है। पाठक राम के दु:ख को अपना दु:ख समझने लगता है। दुखी राम के साथ प्रत्येक पाठक सहानुभूति करने लगता है। सहानुभूति करते-करते पाठक की भावनाएँ परिष्कृत हो जाती हैं। उसमें भी उन्हीं मानवीय गुणों का विकास होने लगता है और वह भी जीवन के जीने में जी-जान से लग

जाता है। जो विद्वान् इस पक्ष को महत्व नहीं देते, वह भूल करते हैं और रामायण को केवल श्रद्धा और भक्ति का पूजनीय ग्रन्थ बनाकर उसकी युगीन महत्ता से इनकार करने का घोर अपराध करते हैं। आज के विज्ञान के युग में जब महान् आत्मिक संकट उभरकर ऊपर आ गया है, तब रामायण को श्रद्धा और भक्ति का ग्रन्थ कहना किसी प्रकार से न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। युगीन परिप्रेक्ष्य में रामायण की महत्ता को, उसके उपर्युक्त मानवीय पक्ष को लेकर ही प्रतिपादित और प्रतिष्ठित किया जा सकता है। अन्यथा भविष्य में रामायण का महत्व घटकर ही रहेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता।

तुलसीदास की चेतना वैज्ञानिक की चेतना नहीं थी। वह कवि की चेतना होने की वजह से जीवन के चाहे- अनचाहे, सभी पक्षों को समेटकर चली है। तभी तो उसे समेट कर चलने में वह राम के मानवीय गुणों के साथ-साथ राम के दैवी गुणों को भी समेटती चली गई है और दैवी गुणों से राम को विभूषित करने में कहीं तनिक भी नहीं चूकी है।

मानवीय चेतना जब भक्ति-भाव से मर जाती है, किनारा कर लेती है, तब वह ऐसे जीवन से ही प्रतिबिम्बित हो चुकी होती है। ऐसे किनारा कर लेने के बाद चेतना इस पचड़े में भी नहीं पड़ती कि कोई देखे-सुने-समझे कि क्यों, कैसा और क्या-क्या हो रहा है? वह सब उसे निस्सार लगता है और आराध्य की आराधना ही जीवन का लक्ष्य बन जाता है। भक्त-कवियों की चेतना इसी कोटि की होती है। भक्त-कवि अपने आराध्य के गुणगान ही बखानने में लग जाते हैं और दूसरों को भुला देते हैं। आराध्य के विमुख जन भी तभी तो उन्हें फूटी आँख नहीं सुहाते। महाकवि तुलसीदास की चेतना भी इसीलिए लोक-जीवन से उद्‌भूत होते हुए भी,लोक-जीवन के पक्षों को उजागर करते हुए भी, बार-बार अपने राम को भगवान् राम कह उठती है। रामायण में इसीलिए तो मानव राम भगवान् राम के पद पर आसीन दिखते हैं। भक्ति के आरोपित राम को मानव राम की ओट में करते-से दिखते हैं। लेकिन आज की युगीन चेतना मानव राम को ओट में नहीं रहने देती और सामने लाकर उनसे साक्षात्कार करती है और उनके अलौकिक ईश्वरीय रूप को भक्तों की मंडली में ही रहने देती है। जब ऐसा किया जाता है, तब राम आदमी का जीवन जीने लगते हैं और हमारे जीवन के सहभोगी बन जाते हैं तथा हम उन्हें अपनी आधुनिक दृष्टि से देखने-सुनने-समझने लगते हैं।

भक्ति-पक्ष की प्रबलता के कारण ही तो भक्त यह सोचना भूल जाता है कि अहिल्या का उद्धार चरण-स्पर्श से असम्भव है। चरण-स्पर्श से उद्धार किया जाना सहर्ष स्वीकार कर लेता है। वह संदेह करने के निकट तक नहीं जाता। संदेह करने से उसकी भक्ति पर आँच आती है। आज के विज्ञान के युग में नारी-उद्धार (Woman-emancipation) की ऐसी कल्पना की ही नहीं जा सकती–ऐसी घटना के स्वीकार किए जाने की बात तो कोसों दूर है। अहिल्या-उद्धार की घटना (Woman-emancipation) की ही घटना तो है। नारियों का उद्धार अब इस युग में ऐसे नहीं होता। बाबा तुलसीदास ने इस घटना को मात्र भक्तिभाव से सहज ही स्वीकार कर लिया था और अपने आराध्य राम को उनके उद्धार का अमर श्रेय दे दिया था। आधुनिक काल में इस घटना पर कोई बौद्धिक व्यक्ति

विश्वास नहीं करेगा और इसे निरा कपोल-कल्पित ही मानेगा।

तुलसीदास की चेतना में यदि इसी तरह भक्ति का पक्ष निरन्तर और अधिक काल तक आरोपित किया जाता रहा और यदि उनकी चेतना को विज्ञान, बुद्धि और विवेक से जोड़कर बाहर न निकाला गया तो वह दिन दूर नहीं है, जब उनकी चेतना का हमारे जीवन में मूल्य ही न रह जायेगा। यह सत्य कटु अवश्य है, परन्तु निःतान्त ग्रहणीय है।

आज राम का कीर्तन जिस जोर-शोर से, लाउडस्पीकर लगाकर किया जा रहा है; वैसा पहले कभी नहीं होता था। इसके बावजूद वही कीर्तनियाँ राम के एक भी गुण को अपने चरित्र में नहीं उतारते। कैसी विडम्बना है यह असहनीय भी है यह !

राजापुर में सरकार ने 'तुलसी-स्मारक' का निर्माण कराया है। वहां रामायण को लेकर उसके विविध पक्षों पर विद्वानों द्वारा–शोधकर्ताओं द्वारा–विचार-विनिमय चालू किया जाना चाहिए था, वही नहीं किया गया। वहाँ तो कीर्तन होता है–रामलीला होती है। और सब-कुछ होने पर भी ऐसा लगता है कि कुछ हो ही नहीं रहा है। न जनता कुछ जानती है, न कोई कुछ जानता है। ऐसा केवल इसलिए होता है, क्योंकि वहाँ के प्रबन्धकों को तुलसी केवल भक्त दिखते हैं–रामायण केवल धर्मग्रन्थ दिखती है–राम केवल भगवान् दिखते हैं–और कहीं कुछ नहीं दिखता।

यह सब बातें यहाँ इस लेख में इसलिए कही गई हैं कि अपना देश इस शताब्दी में तुलसी के चार सौ साल बाद–यह विचार करे कि तुलसी के काव्य पर सही दृष्टिकोण से कैसे और किस सीमा तक जाया जा सकता है और जनता के जीवन में उनका काव्य कहाँ तक–कितनी सीमा तक उपयोगी हो सकता है? ऐसे विचार किए बिना न तुलसी का उद्धार होगा–न रामायण का–न हमारा और न हमारे देश के काव्य का। वस्तुस्थिति का सामना करना और उसके अनुरूप आगे बढ़ना परमआवश्यक है–परम हितकारी है। अन्त में एक बात और महत्वपूर्ण है। उसे कहना आवश्यक है। तुलसी बाबा का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने 'संस्कीरत' के स्थान पर अपने काव्य की भाषा अवधी रखी। वह इतनी सुरुचिपूर्ण और सम्पन्न उन्हीं के कृतित्व के बल-बूते पर हुई है। हिन्दी-संसार इस बात के लिए उनका हमेशा-हमेशा आभारी रहेगा। चौपाई और दोहे तो अन्य छन्दों से इतने छोटे और सरल-सपाट रहे हैं कि काव्य में टिक ही नहीं सकते थे। परन्तु वाह रे बाबा तुलसीदास ! कि वे दूसरे छन्दों से सबसे अधिक समृद्ध और प्राणवान् बन गए हैं और उनकी समता शायद ही कोई दूसरा छन्द कर सके। अवध के राम अवधी में जीकर जनता के जीवन के राम बने, तो इसीलिए कि तुलसीदास ने लोक-चेतना को लोक-वाणी में व्यक्त किया।

❐

रामायण के संदर्भ में तुलसी की कर्मपक्षीय चेतना

देश में ही नहीं, विदेशों में भी, महाकवि तुलसीदास की रामायण पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

यह ग्रन्थ कालजयी महाकाव्य सिद्ध हो चुका है।

इसका कालजयीपन इसके कथ्य और शिल्प दोनों में है। इसकी कथावस्तु चरित निरूपिणी है। इसका शिल्प इसकी चरित-निरूपिणी कथा-वस्तु का सहभोक्ता और सहकार है। दोनों एक-दूसरे को अपनी आत्मीयता से महिमा-मंडित करते हैं।

इसके चरित-नायक राम, तुलसी के इष्टदेव, मनुष्य नहीं, भगवान् हैं। उनका चरित उदात्त है। इसीलिए यह ग्रन्थ जनता का धर्मग्रन्थ बन गया है। अब यह ग्रन्थ पूजा जाता है। अब इस ग्रन्थ को दैवीशक्ति प्राप्त हो गयी है। जनता इसकी मनौती मानने लगी है। यह अपनी अलौकिक क्षमता से जनता का संकट काटने लगा है।

इसके धर्मग्रन्थ बन जाने से परिणाम यह हुआ है कि यह जनता के दैनिक जीवन से कट गया है। यह उसका जीवन-प्रेरक ग्रन्थ नहीं हो पाया। चरित-ग्रन्थ होकर भी यह जनता का चरित-ग्रन्थ नहीं हो पाया। जनता इसकी रामलीला करती है। यह रामलीला दशहरे में लगभग एक पखवारे तक होती है। प्रतिवर्ष इसे देख-देखकर जनता भाव-विभोर होती है। यह ग्रन्थ श्रव्य काव्य के साथ-साथ उतना ही समर्थ दृश्य-काव्य भी बन गया है। लेकिन भगवान् राम से सम्बद्ध होने की वजह से इसके दोनों श्रव्य और दृश्य रूप पूर्णतया पारलौकिक परिधि में पहुँच गये हैं। लोक-जीवन इस परिधि से बाहर जिया जाता है। इस परिधि के बाहर इसका लौकिक प्रभाव नहीं पड़ता। यह ग्रन्थ आदमियों को अन्धरूढ़ियों से अबतक बाहर नहीं निकाल सका। रूढ़ियों में फँसे लोग रूढ़ियों से कराहते-मरते रहते हैं। उसकी चेतना रूढ़ियों का तिलस्म नहीं तोड़ती। उनकी चेतना, यथास्थिति को विधि का अटल विधान मानकर रामायण के सामने घुटने टेक देती है और श्रद्धा और विश्वास के इस ग्रन्थ से उनका कल्याण और कष्ट से उद्धार चाहती है। कल्याण हो या न हो, उद्धार हो या न हो, लोग इस ग्रन्थ को इतना सिद्ध और पावन मान चुके हैं कि इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य सहारा शेष नहीं रह गया। ऐसी दशा में यह ग्रन्थ मनुष्य की आस्था का ग्रन्थ तो बन गया है, लेकिन यह उसकी करनी का ग्रन्थ नहीं बना। करनी का ग्रन्थ न बनने से यह मनुष्य की करनी को आजतक, दिशा

और दृष्टि देकर भी बदल नहीं सका। मनुष्य-मनुष्य की वही-वही करनी आजतक चालू है। मनुष्य-मनुष्य वही-वही दीन-हीन-क्षीण जीवन जीता है। द्वन्द्व के फंद पूर्ववत् बरकरार है। गले में फाँसी लगाये लोग भोगवान जीवन को विवशता से जीते हैं। फिर भी इस जीवन को नया रूप देने से निरन्तर कतराते हैं।

आदर्श चरित का यह ग्रन्थ लोक-जीवन जीनेवालों के लिए आत्म-तोष का ग्रन्थ हो गया है। आत्म-तोष के ग्रन्थ के रूप में यह वंदनीय ग्रन्थ है। किन्तु करनी का ग्रन्थ न होने की वजह से असमर्थ ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ के पारलौकिक (अलौकिक) पक्ष की कथावस्तु इसके लौकिक पक्ष की कथावस्तु से अधिक तेजवान् और प्राणवान् नहीं कही जा सकती। लौकिक पक्ष की कथावस्तु को निकाल दिया जाये तो इस ग्रन्थ के अलौकिक पक्ष की कथावस्तु गतिहीन और निष्क्रिय पड़ जायेगी। वास्तव में वनवासी राम जी का संघर्षमय जीवन ही रामायण की मूल कथावस्तु है। इस मूल कथावस्तु में ही रामजी मनुष्य की तरह जीवन जीते हैं। न तो उनके पास फौज-फाटा है, न वह राज-शक्ति से सम्पन्न हैं। जो भी यथार्थ उन्हें संत्रस्त करता है. वह उससे जूझते हैं व्यक्तिगत स्तर पर। वह अपनी संगठन-शक्ति का अद्‌भुत और अभूतपूर्व परिचय तब देते हैं, जब वह अनेकानेक वन-जातियों के लोगों का सार्थक और सक्रिय सहयोग प्राप्त करते हैं। वह अपनी कार्य-नीति और रण-नीति का सफल उदाहरण तब प्रस्तुत करते हैं, जब वह रावण से युद्ध करते हुए लंका में विजय का वरण करते हैं और सीता जी को पुनः प्राप्त करते हैं। वह अपनी मानवीय सभ्यता और संस्कृति का तब उदात्त परिचय देते हैं, जब वह रामेश्वरम् में शिव-लिंग की स्थापना करते हैं। वह अपने चरित्र के लोक-मंगल को तब उजागर करते हैं; जब वह अपनी धर्म-भीरुता को अपनी कर्मठता से जोड़ते हैं और देश-काल के अनुरूप चरित्र को जीते हैं। वह यह प्रमाणित करते हैं अपने संघर्षमय जीवन-चरित्र से कि आदमी अलौकिक शक्ति के बलपर ही जीवित नहीं रह सकता। जीवन जीने के लिए आदमी को कर्म करना पड़ेगा ही चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो। अलौकिक शक्ति पर विश्वास करके आदमी निडर और निर्भीक हो सकता है-मृत्यु-भय से बच सकता है—संशय से मुक्त हो सकता है, लेकिन किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए आदमी को निश्चय ही कर्म करना पड़ेगा। रामजी का धर्म रामजी के कर्म से घनिष्ठतम रूप से सम्बद्ध है। वह धर्म कर्मठ धर्म है। वह धर्म लौकिक धर्म है। इसलिए इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि रामायण, किसी भी प्रकार से, पुजापा का ग्रन्थ न बने। निश्चय ही अगर तुलसीदास जी जीते होते तो वह अपनी रामायण को पुजते हुए देखकर पूजनेवालों पर कुपित होते और उनकी भर्त्सना करते, क्योंकि वह स्वयं भी आज के वैज्ञानिक-बौद्धिक युग में वैज्ञानिक और बौद्धिक हो गये होते। यह कहना कि उन्होंने राम से अधिक राम के नाम को माना है और उसके जाप की महिमा बखानी है, इसलिए वह कर्म से अधिक धर्म के कायल थे, सरासर गलत होगा। उनका यह कहना उनके चिन्तन के अन्तर्विरोध को प्रकट करता है। इस अन्तर्विरोध के बल-बूते पर उनकी सबल पक्षीय कर्मप्रधान

विचार-धारा को झुठलाया नहीं जा सकता। उन्होंने कर्म के धरातल पर काव्य को पहुँचाया और इसीलिए उन्होंने कर्म के क्षेत्र में ज्ञान और भक्ति का भेद मिटाया। चाहे ज्ञान हो—चाहे भक्ति, दोनों आदमी से कर्म करावें तभी उनकी सार्थकता सिद्ध होती है। अकर्मक ज्ञान और अकर्मक भक्ति—दोनों ही मानवीय जीवन का उद्धार और सँवार कर सकने में अक्षम होते हैं।

आमतौर से सहज साधारण पाठक इस बात को नहीं समझते। इसे कथावाचक भी नहीं समझते और कीर्तनिये तो इसे कतई नहीं समझते। वे तो गा-बजाकर नाम के बलपर अपना काल्पनिक कल्याण कर लेते हैं।

आवश्यकता है कि इस बात को—इस मर्म को—इस पक्ष को सबल रूप से सबके समक्ष उद्‌घाटित किया जाये,—इसकी पुष्टि बार-बार की जाय।

इस मर्म के उद्‌घाटन और इसके स्थापन के लिए रामलीलाओं का आयोजन किया जाना चाहिए। परम्परित रामलीलाओं से अब काम नहीं चल सकता। उनका नवीनीकरण किया जाना बहुत जरूरी है। यह नवीनीकरण ऐसा हो कि राम आदर्श पुरुष की तरह रामलीला में अपना चरित्र चित्रित करें। वह आदमी की तरह भगवान् की तरह नहीं, कर्मरत दिखाये जायें। दृश्य-काव्य का अत्यधिक प्रभाव मानव चेतना पर पड़ता है। ऐसी रामलीलाएँ देखते-देखते सहज साधारण आदमी की चेतना बदलेगी और वह चेतना, धर्मभीरु होते हुए भी, भक्ति-रूपिणी होते हुए भी, कर्म-संचालिनी चेतना होगी। ऐसी चेतना ही तुलसी की चेतना का लोक-मंगल-स्वरूप संसार में स्थापित कर सकेगी। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नजर नहीं आता।

❐

प्रेम के अमरगायक-योद्धा-कवि : हंगरी के सैंडरपेटाफी

अपने देश की स्वाधीनता के सेनानी और प्रेम के अमर गायक कवि सैंडर पेटाफी का जन्म एक देहात—अलफोल्ड—में पहली जनवरी 1823 को हुआ था। पिता सराय चलाते और मांस बेचने का काम करते थे। आर्थिक विपन्नता थी, पिता को दिवालिया होना पड़ा, पढ़ाई रुक गयी। स्वभाव से उग्र और स्वतन्त्र प्रकृति के थे, इसलिए घर से बँधे न रह सके और जीवन जीने के लिए अपने गाँव से बाहर की दुनिया में पैदल चल पड़े। बरफीले मैदान और अनजाने रास्तों की यात्राएँ कीं। भूखे-प्यासे भी दहकते दिल और उबलते दिमाग से चलते रहे, जब जहाँ जगह मिली सो गये, जमीन पर ही लेट गये, आकाश के नीचे रैनबसेरा किया। जहाँ गये गरीबी साथ गयी, मगर गरीबी इन्हें दिमाग से गरीब न बना सकी। यह ज्ञानार्जन करते ही चले गये। जहाँ रहे, जिससे मिले, वहाँ उससे सीखने लायक बहुत-कुछ सीखते-सीखते योरोपीय साहित्य और संस्कृति का अच्छा-खासा परिचय इन्होंने पा लिया। अपने प्रवासी जीवन में ही इन्होंने एक नहीं, अनेक भाषाओं पर अधिकार भी पा लिया। अच्छी तरह से जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाएँ सीख गये। इन भाषाओं के साहित्य में गहरे पैठे भी। इतालवी भाषा का अल्पज्ञान भी इन्हें हो गया। यह साहित्य के प्रति संस्कारबद्ध होते-होते संसार के महान् क्लासिकीय साहित्य के विराट् वैभव और सूक्ष्म स्पंदनों से अभिभूत और झंकृत हुए और परिणामस्वरूप इनकी अपनी मौलिक साहित्यिक प्रतिभा उन्हीं चिरस्थायी साहित्यिक तत्वों और मानव-मूल्यों से विकसित और विवर्धित हुई और इस तरह निखरी और सँवरी कि कृतियों में आग और राग दोनों ही सदेह अवतरित हो गये और दोनों ने एक-दूसरे को जीवन और जवानी दी। भावातिरेक और तन्यमता दी—मूर्तिमत्ता और सजीव चित्रमयता दी—कि जो कथ्य और शिल्प इनकी अपनी भाषा में व्यक्त हुआ, वह ऐसे व्यक्त हुआ कि सचमुच कालजयी हो गया। और अबतक संसार के मानस-मुकुर में बिम्बित और प्रतिबिम्बित होता रहता है। यदि यह कहा जाये कि इन्होंने साहित्य के उत्तम और उदात्त संस्कार अर्जित किये तो सत्य ही होगा। इन्होंने अपनी साहित्यिक क्षमता अपने पिता से विरासत में नहीं पायी थी।

इन्हें अलफोल्ड के अपने समतल-सपाट वे मैदान अत्यधिक प्रिय थे, जिनके ऊपर मृग-मरीचिका बिम्बित करनेवाला आकाश था और जहाँकि सकुनसाय के पुष्ट और पीन पशुओं के सैकड़ों समूह, गले की घंटियाँ बजाते हुए विचरण करते थे और जहाँ मध्यान्ह में पानी पीने के लिए कुओं की चरहियों में एकत्रित होते थे। वहीं तो हवा में भागते-

दौड़ते घोड़ों की टपाटप आवाजें सुनाई पड़ती थीं। चरवाहों की कंठध्वनियाँ भी तो वहीं गूँजती थीं। फसलों के श्यामहरित और स्वर्णिम आँचल भी तो मनोहारी लास और विलास से वहीं लहराते और हरहराते रहते थे, वनचारी जीव भी तो वहीं झाड़ियों से निकलकर चौकन्ने हुए इधर-उधर घूमते-घामते थे। खेतों के पार वहीं तो खुले मैदान में एकाकी खड़ी एक सराय थी, जिसकी चिमनी टूट चुकी थी। इसी सराय में तो प्यासे रहजन 'कीसकेमेट' की बाजार को जाते समय, रुककर अपनी प्यास बुझाते थे। सराय के पास ही तो कुबड़े पेड़ों का पीला जंगल था, जहाँ चीखते-चिल्लाते 'केस्ट्रेल' (खेरमुतिया) यानी बाज पक्षी अपने नीड़ बनाते थे कि गाँव के लड़के वहाँ उन्हें सता न सकें, भटकटैया भी तो वहीं फूलती थी नीले फूलों से लदी, गरमी से सताये और परेशान हुए गिरगिट भी तो इन्हीं पौधों के शीतल तनों के तले आकर विश्राम करते। दूर-बहुत-दूर—जहाँ क्षितिज में धरती और आकाश मिलते हैं वहाँ नीलाभ फल-वृक्षावली कोहरे से सिर उठाये रहती थी और उन्हीं के पीछे धुँधली छायाकृतियों के गिरजाघरों के खम्भे भी तो शहर में अवस्थित दिखते थे।

तभी तो पेटाफी ने अपनी डायरी को गद्य में लिखा कि यहीं अलफोल्ड में तो वह पालने में झूला था और यहीं तो उसका नारा गड़ा था, इसलिए यहीं उसे दफन किया जाये और उसकी समाधि पर उसके नाम का शिलालेख लगाया जाये।

डेन्यूब नदी के किनारे बने अपने छोटे-से घर से उसे विशेष प्रेम था। जब भी उसे अपने इस घर की याद आती थी, तब उसकी आँखों में आँसू भर आते थे। वह इसी घर में रह कर अपना जीवन-यापन करना चाहता था। लेकिन देश के सुखद भविष्य के लिए अपना आत्म-समर्पण करने में उसे हिचक नहीं हुई। वह इसे छोड़कर देश की स्वाधीनता के लिए निकल पड़ा। और जहाँ भी रहा और गया इसकी याद में हमेशा आँसू बहाता रहा। इसी घर में तो उसकी माँ रहती थी। इसी की छाती से लगकर रोते-कलपते छोड़कर वह माँ से विदा हुआ था। जब कोई उस तरफ जानेवाला व्यक्ति मिलता तो वह उससे यही कहता था कि उसकी माँ को वह बता दे कि उसका बेटा अच्छी तरह से है और यह न कहे कि उसे कष्ट है। वरना, उसकी माँ का दिल अपने बेटे की दुर्दशा का हाल सुनकर चूर-चूर हो जाएगा।

अपने दोस्तों को पत्र लिखता था। वह ब्रेगेञ्ज में फौज में था। वहाँ से उसने पत्र लिखा कि अब वह जगरेब जाएगा और जून तक ग्राज में ही ठहरेगा। वहाँ वह हताश और निराश भी इस बात से होता था कि उसे विद्वान की जिन्दगी बसर करने के बजाय अब जड़ लोगों के साथ-निरे मूढ़ लोगों के साथ रहना पड़ रहा है। जैसेकि वह किसी बर्बर नृशंस अत्याचारी के चंगुलों में फँस गया हो। ऐसे क्षणों में भी कविता ही उसे उस नरक से उबारती थी और स्वर्गिक सुख और संतोष देती थी। कविता न होती तो वह निराश हो कर मर ही जाता। कविता लिखना भी कठिन काम था। जब फौजी अफसर (Corporal) उसे कलम लिए देखता तो क्रोधावेश में भला-बुरा कहने लगता और तत्काल ही उसे किसी दूसरे काम में जोत देता था।

एक बार जब फौज से छुटकारा मिल गया तो उसके सामने दो रास्ते थे कि या तो वह अपने पिता का पेशा यानी मांस बेचने का काम करे और घर की गरीबी दूर करे अथवा लेखन का काम करे। वह घर न गया 'पेस्ट' गया। वहाँ भी अनुकूल वातावरण न मिला। वहाँ ऐक्टरों से भेंट हुई। दोस्ती हो गयी। वह भी ऐक्टर बन गया। अपने मित्र को पत्र में उसने लिखा कि वह अब अपने दिमाग से काम ले रहा है और उसने अपने सिर पर फूलों का हैट रख लिया है। उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। वह हृदय की बात सुनता था और तभी दुर्दिन में भी आशा का प्रदीप जलाये निराशा का अंधकार दूर करता था। उसे बुरा तो लगता था कि बूढ़े लोग उसे जंगली और मूढ़ समझते थे। वह स्वीकार भी करता था कि वह उद्धत है, परन्तु उसे मूढ़ होना स्वीकार नहीं था।

नवम्बर के शुरू में वह पापा (Papa) में था, परन्तु वहाँ वह न टिक सका। उसकी वहाँ बने रहने की योजना विफल हो गई। वह फेहरवार (Fehrvar) गया। वहाँ वह दिल में दर्द और हर्ष दोनों लिये पहुँचा। वहाँ उसे ऐक्टरों के नेक बैंड–ज्येजेफ स्जाबो–में ले लिया गया। उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई, परन्तु माँ-बाप के ऊपर इस बात से गाज गिरने की सम्भावना देखकर गहरा दु:ख भी हुआ। बड़े दिन के अवसर पर पेस्ट (Pest) में रह कर उसने दो सम्पादकों से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त कर लिया। उन सम्पादकों के नाम थे बाज्जा (Bazza) और वरोसमार्ली (Varosmarli)– 'अथेनआइयम' (Athenaeum) पत्रिका में उसकी प्रकृति सम्बन्धी कवितायें छपीं। मगर उसके ऐक्टर मित्रों ने उसका नाम देखकर भी यह नहीं सोचा कि वह कवितायें उसकी थीं। एक कविता का एक अंश इस प्रकार था–

एक-एक झाड़ी थी एक-एक 'ऑपेराबाक्स'
जहाँ चुप बैठे थे छोटे संकोची बनफशे के फूल,
जैसे वही हों तन्मय युवतियाँ जो सुनती थीं -
प्रधान गायिका बुल-बुल का मधुर गायन।

फिर कुछ दिन बाद उसने अपने मित्र को पत्र में लिखकर इस बात की सूचना दी कि वह रंगमंच का काम छोड़कर 'रेगेलो' (Rggelo) का उप-सम्पादक होने जा रहा है। ईस्टर की छुट्टियों में वह घर भी गया था, कुछ दिन के लिये। कुछ दिनों बाद वह फिर घर जाने वाला है। 'माँ' के प्रति उसने एक बड़ी सुन्दर कविता लिखी।

''दिन और रात-
घर के लिये बेचैन-
उसी की बात सोचता हूँ।
कैसे करूँगा मैं-
परम प्यारी माँ का अभिवादन,
दीर्घकाल से जिसे मैंने देखा नहीं
और पाया भी नहीं ?
पहुँचते ही, पहले-पहल मैं उससे क्या कहूँगा ?

प्यार और मनुहार में,
जब वह मुझे हाथों-हाथ सीने से लगा लेगी,
अपने उन हाथों से–
जिनसे उसने मुझे पालने में झुलाया है।
एक-पर-एक–
आते चले जाते हैं–अनगिनत विचार
एक-एक से अधिक–अधिक मनहर .....
समय के ठहरने का हुआ आभास
हालाँकि
चक्कर–काटते भागते चले आते हैं
मालगाड़ी के तेज पहिये।
घुसते ही माँ के छोटे कमरे में
ललक कर दौड़ पड़ी मेरी माँ मेरी ओर .....
और अबोला ही मैं लग गया उसके ओठों से
पेड़ पर लगा हो जैसे फल।

डेब्रेसीन (Debrscen) से वह वसन्त में, पेस्ट आया। पैसों की जरूरत थी। उसने अपनी कविताओं की पांडुलिपि प्रकाशकों को दिखाई कि कोई खरीद ले। वोंटोस्मार्ली को अपनी आर्थिक विपन्नता की स्थिति बताई। उनके प्रयास से 'नेशनल सर्किल' ने उसकी कविताओं की एक हजार प्रतियों का संस्करण छापा। खर्च काटकर बिक्री की सारी आय उसे मिलनी थी।

वह भविष्य के सुनहरे स्वप्न देखता और अपनी दुश्चिंताओं को रफूचक्कर कर देता, अपनी सपनीली आत्मा के चन्द्रकिरणी गीतों को उठते देखकर। ईश्वर पर उसे भरोसा था। चिन्ताओं से मुक्त उसकी निर्द्वन्द्व आत्मा में गीत तितलियों की तरह उड़ने लगे थे। जब किसी खूबसूरत लड़की से सम्मोहित होता तो वह उसकी आँखों के अगाध में वैसे ही निहारने लगता, जैसे आसमान का कोई नक्षत्र प्रशान्त झील में निहारे। तब जो गीत उसकी प्रेम-विभोर आत्मा में उठते थे, वह कंठ-गुलाब होते थे। यदि लड़की उसे प्यार देती थी तो वह हर्ष से, उल्लास से उसे शराब की तरह पीता था। यदि लड़की उसे प्यार नहीं देती थी तो वह विष का घूँट पीता था। शराब पीने में जैसे दुनिया रंग-बिरंगी हो जाती है, वैसे ही प्रेम-विभोर आत्मा के उसके गीत इन्द्रधनुषी हो जाते थे। लेकिन प्रेम करते समय भी उसे देश की याद आ जाती थी। उसके मुक्त हाथ बंदी हो जाते थे और वह अंतरात्मा से दु:खी हो जाता था। तब जो गीत घुमड़ते थे, वह आत्मा पर छाये बादलों के गीत होते थे। तभी वह अपने देशवासियों की ओर नजर डालता था। वह आक्रोश और आवेश से झनझना उठने के बजाय यथास्थिति में पड़े रहते दिखते थे। वह असह्य पीड़ा से तमक उठता था। ऐसे समय जो गीत उसकी क्रुद्ध आत्मा से उठते थे, वह बिजली की तरह चमकते थे।

इसीलिए वह कविता लिखता रहा। उसने कविता को, चौड़ी सड़कों पर चक्कर काटती गाड़ी नहीं, बल्कि आसमान में मुक्त, ऊँचे उड़ता गरुड़ माना। जहाँ आदमी कभी नहीं गया वहाँ कविता जाती है। लोग तो ऐसे होते हैं कि इन्तजार करते निराश बने रहते हैं और जैसे ही कोई नई सड़क खुली कि ऐसे दौड़ पड़ते हैं, जैसे खरगोश के पीछे कुत्ता। उसने अपनी डायरी में लिखा कि - 'कलम उठाओ और लिखो और वहाँ जाओ जहाँ दूसरे नहीं गये। और, तुममें ताव और ताकत नहीं है तो बेहतर है कि हल पकड़ो, खेत जोतो और अगर यह भी नहीं कर सकते, तो मोची की तरह जूते गाँठों और अपनी बाँसुरी को–दुखी बाँसुरी को–गहरे जमीन में गाड़ दो।'

उसने लार्ड मार्स और मैडम थालिया की नौकरी की और बड़ी इज्जत से की। पहले ने उसे निकाल दिया। दूसरी को वह छोड़ भागा। वह पैदल भी चला और रथयान में भी चला। उसने दूसरों के जूते भी साफ किये। वह भूखा-प्यासा इधर-उधर मारा-मारा फिरा और एक बार तो सूखी रोटी खा कर भी घूमा-फिरा, तो दूसरी बार उसने दावत भी उड़ाई। वह निर्जन सूनसान में नंगी जमीन पर भी सोया और गुदगुदे बिछौने पर भी, मुलायम तकियों पर सिर धरकर। उसने मजिस्ट्रेट के नौकर को टोपी उतारकर, सलाम भी किया और मजिस्ट्रेटों ने भी उसे झुककर, अभिवादन किया। कभी-कभी तो वह ऐसी हालत में भी रहा कि उसके हाथ-में-हाथ देकर चलने से युवा नौकरानियाँ भी लज्जा का अनुभव करतीं। ऐसी हालत में भी वह रहा है कि भद्र महिलायें उसकी नजर पाने के लिये तरस जातीं। उसने कीमती-से-कीमती कपड़े भी पहने और थेगड़े लगे लिबास भी पहने। इस तरह की अत्यधिक सामाजिक उतार-चढ़ाव की रही है उसकी जिन्दगी।

उसे अपने देश की जनता की बदहाली का पूरा ज्ञान था। एक तरफ अमीरी ऐश करती थी तो दूसरी तरफ लोग भूखे ही मरकर कब्र में दफन हो जाते थे।

स्जातमार (Szatmar) में उसकी जान-पहचान एक लड़की से हो गई जिसे वह प्यार करने लगा। अगले वर्ष पति-पत्नी बन जाने की सूचना उसने अपने मित्र को लिख भेजी। वहीं इस जान-पहचान से प्रभावित होकर उसने यह कविता लिखी–

चिड़िया बैठी जब झाड़ी पर
झाड़ी सिहरी,
तुम जब आई मेरे दिल में
मैं भी सिहरा।
प्यार किया तुमसे जब
दोनों साथ रहे हम,
तब वसंत के सुन्दर दिन थे;
अब जाड़ा है,
यदि अब प्यार नहीं है तुमको
मुझसे प्यारी

तब भी तुम पर कृपा करे प्रभु
दिये सहारा;
यदि अब भी है तुमको मुझसे
प्यार अनूठा
प्रभु तुम पर आशीषें बरसे
दया दृष्टि से।

सन् 1844 में उसने, जब वह भविष्य को धुँधला-धुँधला देख रहा था,अपनी कविता का नाम, अपने आदर्श के अनुसार ही, 'Lyre and Sword' रखा।

सन् 1847 में ही उसने लिखा कि वह रक्तरंजित दिनों के सपने देख रहा है। उसने सपने ही नहीं देखे, रक्तपात और युद्ध में शिरकत भी की।

सन् 1847 में अपनी कविताओं के पहले बृहद् संस्करण का नाम 'Librety Love' रखा। उसमें छप्पय छंद का प्रयोग किया। यह संग्रह बाद को प्रसिद्धि प्राप्त कर गया।

पहली जनवरी सन 1847 को वह 24 वर्ष का हुआ। इस दिन उसने अपने पहले के सम्पूर्ण जीवन पर फिर से गौर किया और विशेष तौर से अपने साहित्यिक जीवन पर, अपनी किताब की भूमिका में, अपने विचार खुलकर व्यक्त किये। कोई भी बात जो उसने कही बड़े स्पष्ट ढंग से कही। कविता के सम्बन्ध में भी उसने लिखा कि लोग उसके खुलेपन से रुष्ट होंगे, क्योंकि दुनिया तो बड़ी पाखंडी है। लेकिन उसने दुनिया की नाराजगी की कतई परवाह नहीं की। जो कुछ भी उसने लिखा-खुले दिल और दिमाग से लिखा। आलोचकों और आम लोगों में, उसकी कविताओं के विषय में, अत्यधिक मत-भेद था। जनता में तमाम उसके पक्ष में थे, मगर बहुतेरे आलोचक उसके प्रतिपक्ष में थे। ऐसा इसलिए था कि वह अपने लिखने में कलम को संयमित रूप से नहीं चलाता था कि उसकी अभिव्यक्तियाँ और उसके विषय सहज और सपाट हों।

वह कविता को आभिजात्य लोगों की बैठक नहीं समझता था कि जहाँ जो चाहे चमचमाते जूते पहने घुस आये। वह तो कविता को गिरजाघर की तरह पावन और पवित्र समझता था कि जहाँ या तो नंगे पाँव जाया जाये अथवा खड़ाऊँ पहनकर। उसकी वाणी में स्वच्छ देश-प्रेम की ललकार गूँजती थी। उसने उसे कविता में अभिव्यक्त किया–

अगर तुम आदमी हो, तो आदमी बनो,
न कि जारज कठपुतली बनो
कि भाग्य जैसा चाहे
मौज से उसे नाच नचाये
भाग्य तो एक भौंकता हुआ कुत्ता है
जो समर-सूरमा की चढ़ी आँखें देख कर
दुम दबा कर भाग जाता है,
इसलिए न करो समझौता

अगर तुम आदमी हो, तो आदमी बनो
और शब्दों से अधिक की जरूरत है तुमको
क्योंकि डेमा स्थनीज से बेहतर
करनी स्वयं बोलती है अपने आप,
बनो तो प्रभंजन बनो, सर्जन करो,
या कुचलो, और तब मरो;
या कि तूफान बनो, काम तमाम करके
तुरन्त कूच करो।
अगर तुम आदमी हो, तो आदमी बनो।
सिद्धांत पर चलो, विश्वास पर अटल रहो,
और दोनों का मूल्य चुकाने को तैयार रहो,
जरूरत हो तो रक्त दे कर उसे चुकाओ,
बेहतर है कि हजार बार अपनी जिन्दगी से
घृणा करो मगर अपने आप से नहीं,
और होम दो अपनी जिन्दगी
अगर होमने से इज्जत बनी रह सके;
अगर तुम आदमी हो, तो आदमी बनो।
स्वाधीनता तुम्हारी बिक्री के लिये नहीं है
भले ही संसार की सम्पूर्ण निधियाँ
मिलें, कोई न तुम्हें ललचा सके,
घृणा करो उस आदमी से जो बेचता है अपने को
बड़े-से-बड़ा माल हड़प कर लेने के लिये,
भिक्षुक की लकुटिया और स्वाधीनता ही
रहे तुम्हारी सम्पत्ति और आदर्श सदैव-सदैव।
अगर तुम आदमी हो, तो आदमी बनो।
साहसिक, अविचलित, और बलीन,
कि न आदमी पहुँचा सके, न भाग्य,
सहज ही तुम्हें कोई नुकसान।
बनो तो बस बलूत का वृक्ष बनो
कि दुश्मन आँधी भले ही नेक तने को उसके
जड़मूल से उखाड़ दे--विच्छिन्न कर दे
झुकेगा वह नहीं-नहीं कभी नहीं।

इधर तो देश-प्रेम और अपनी जनता के प्रति उत्कट रूप से उन्मुख रहा और उधर, साथ-ही-साथ, प्रेयसी पाने की उत्कट लालसा से भी उद्वेलित रहा। दोनों मोरचों पर एकसाथ रहा और जीता रहा डिग्री के ऊँचे तापमान में।

नक्षत्रों भरी शांत निशा में–चाँदनी रात में–जब बुलबुल कुहुकती होती, तब उसे प्रतीत होता कि जैसे उसी का दिल कुहुक रहा हो जो प्रेयसी की तलाश में प्रारम्भिक जवानी के दिनों से ही रहा है। वह जिस युवती के पास जाता, उसी के आगे घुटने टेक देता, उसी की उपासना करने लगता। उसे यही लगता कि जैसे वही उसकी प्रिया है। लेकिन जबतक उसकी शादी जुलीस्का (Juliska) से नहीं हो गई, उसने उसे नहीं पा लिया, तबतक वह बार-बार अन्य औरतों के आगे विनत होता रहा और अपनी असली प्रिया को पाने के लिये तड़पता रहा। जब उसने जुलीस्का को पा लिया, तभी उसे मालूम हुआ कि जैसे वह पहले केवल मूर्तियों की उपासना करता रहा है न कि असली ईश्वर की।

वह जुलीस्का से ब्याह करके, उस जैसी सुन्दर युवती को पाकर, अपने को धन्य समझता रहा और भाव-विभोर तो रहा ही। वह अजनबी-अनजान आदमी था। उसे जुलीस्का के कुटुम्बीजन अपनाने को तैयार न थे। जुलीस्का ने उसी से ब्याह किया। तभी वह जुलीस्का को देवी मानता था। उसने लिखा कि उसे उसने अपनी आजादी की कीमत देकर खरीदा था और अब वह उसे उससे भी अधिक कीमत लेकर बेच रहा है। वह कीमत कुछ और नहीं उसकी जुलीस्का ही थी। उसने अपनी गौरव और गरिमा इस संदर्भ में इस प्रकार व्यक्त की –

ऐसा महाकाय हूँ मैं –
–किसी ने क्या देखा है मेरा समकक्षी ?
–घुटनों पर उठाये हुए हूँ मैं –
–महाकाय का सारा साम्राज्य।
–झुको तुम झुको मेरे ऊपर,
–मेरे प्यारे स्वर्ग।
–सौन्दर्य के निरभ्र आकाश।
–मध्याह्न की क्रान्ति के कलेवर।

इरदाद (Erdod) में यह ब्याह हुआ था, मध्यकालीन ढंग से, सवेरे पहर। बजाय गम्भीर और संकोचशील रहने के पति-पत्नी बराबर पूरे समय एक-दूसरे को देख-देखकर मुस्कराते ही रहे।

अब वह अत्यधिक हर्षोल्लास के साथ लड़ने के लिये जा सकने की बात सोचने लगा। रण में जाकर उसके वक्ष में घाव लगे तो उसकी पत्नी उसपर पट्टी बाँधेगी। वही अपने चुम्बनों से उसे पूरेगी। अगर वह बन्दी बना लिया गया तो वह उसके पास जेल की अँधेरी कोठरी में आयेगी और उसे अपनी दमकती आँखों की चमक से जगमगा देगी। अगर वह मर गया तो अपने आँसुओं से उसका रक्त धोनेवाली वही तो होगी। ऐसा नहीं हुआ कि पेटाफी पत्नी के आ जाने से, उसके पीछे पागल होकर, कायर हो गया हो। पत्नी का प्रेम उसके देश-प्रेम को और दुगने उत्साह के साथ उकसाये रहने में सहायक ही हुआ।

सन् 1848 आ गया। उसने अपनी एक कविता का शीर्षक 'मेरी पत्नी और मेरी तलवार' रखा। यह नाम उसकी दोनों हार्दिक प्रवृत्तियों को भली प्रकार से व्यक्त करता है।

पेटाफी ने शेक्सपियर के नाटक 'कैरियोलेनस' (Cariolanus) का अनुवाद पूरा किया। क्रान्ति और स्वाधीनता संग्राम की वजह से यह काम काफी दिनों तक अधूरा ही पड़ा रह गया था।

पेटाफी ने शेक्सपियर पढ़ा और पढ़कर इतना अभिभूत हो गया कि लिखा–

'शेक्सपियर! अगर यह नाम एक पहाड़ हो जाये तो वह पहाड़ हिमालय से भी ऊँचा होगा। अगर यह नाम एक महोदधि हो जाये तो वह महोदधि अटलांटिक महासागर से भी गहनतर और विपुलतर होगा। अगर यह नाम एक नक्षत्र हो जाये तो वह नक्षत्र सूर्य से भी प्रखरतर चमकेगा। ..... शेक्सपियर तो अपने आपमें आधी सृष्टि है। ईश्वर ने जब उसे बनाया तो कहा अरे मनुष्यों, यह लो-अब तक तुम मेरे अस्तित्व के बारे में शंकालु रहे हो और मेरी महानता स्वीकार करने में संदेह करते रहे हो, लेकिन अब तो शंका और संदेह नहीं करना। शेक्सपियर के पहले, और बाद को भी, न कोई पक्षी इतना ऊँचा उड़ा, न किसी आदमी का दिमाग, जितना ऊँचे उड़ा वह। दिल के अतल में पड़े रत्नों को वहाँ से निकाल लाया शेक्सपियर। कल्पना के दीर्घकाय और उच्चतर वृक्ष के शिखा से तोड़ लाया वह पुष्प शेक्सपियर जो कोई दूसरा न ला सका। उसने तो प्रकृति की सारी श्री और सौन्दर्य-राशि ही जैसे हथिया ली। हम तो अब वही–जैसा जो कुछ बच रहा है–बीनते और चुनते हैं, जिसे वह बेकार समझकर छोड़ गया था। ऐसा कोई भाव, ... ऐसा कोई चरित्र नहीं बचा, जिसे शेक्सपियर ने चित्रित न किया हो उसमें उसने ऐसे रंगों का प्रयोग किया है, जो काल के द्वारा न धूमिल किये जा सकते हैं, न मिटाये जा सकते हैं। वह तो क्षीण होते ही नहीं।'

पेटाफी के हृदय में स्वाधीनता-संग्राम के लिये तीव्रतम ललक थी। वह सन् 1848 में इतनी साकार हो गई कि उसे दिखाई पड़ने लगा कि यूरोप अब एक करवट लेने ही वाला है। अचानक तभी आसमान जमीन पर भरभराकर गिर पड़ा। भविष्य बन गया वर्तमान। इटली में क्रांति भड़क उठी। तभी उसने अपनी पत्नी जुलीस्का से एक दिन रातभर जमकर बातें कीं। उसकी पत्नी ने उसके विचारों का समर्थन किया और वह तो उससे भी दस कदम आगे थी जैसे कि फौज का परचम फहराता आगे-आगे चले-ऊँचे सबसे ऊँचे-सबके सिरों के ऊपर।

लेकिन इस देश-प्रेम और क्रान्तिकारी भावना के उद्दाम आवेग में भी जुलीस्का के लिये, उसके सौन्दर्य के लिये, उसके प्रेम के लिये, पेटाफी कविता लिखता रहा। उसकी यह कविता इसी बात को लेकर लिखी गई है। निहायत साफ और सरल निश्छल हृदय की यह अभिव्यक्ति अपने-आपमें विश्व-साहित्य में अमर हो गई–

क्या कहूँ मैं तुमको,
स्वप्निल प्रकाशोपरान्त में जब

साश्चर्य देखता हूँ मैं
तुम्हारी स्वच्छ आँखों के सांध्य तारक को,
अन्वेषणोपरान्त देखा हो जैसे मैंने उसे,
प्रत्येक किरण तब लगती है मुझको
प्रेम की एक नदी
मेरी अन्तरात्मा के महासागर में होने के लिये प्रवाहित.....
क्या कहूँ मैं तुमको ?
क्या कहूँ मैं तुमको,
मुझ पर जब तुम डालती हो अपनी निगाह,
निगाह का यह पंडुक सौम्य,
जिसकी पक्षति का प्रत्येक पंख
आँचल अनालाप के अंजीर एक डाल होती है,
संस्पर्श से जो दुलारती और कृपाशील होती है।
रेशम से भी अधिक मृदुल,
और पालने की तकिये से भी अधिक सुकुमार होती है.....
क्या कहूँ मैं तुमको ?
क्या कहूँ मैं तुमको,
ऐसे अनुनाद करता है जब तुम्हारी वाणी का झंकृत संगीत,
कि सुन भर लें अगर उसे हिमाच्छादित पेड़
पल्लवित हो कर हरित-भरित श्यामल हो जायें उनकी डालें
इस विश्वास से कि वसंत आ गया है यहाँ!
बहु-प्रतीक्षित उद्धारक व संत–
क्योंकि वे सुनते हैं आकाश पक्षी को गाते.....
क्या कहूँ मैं तुमसे ?
क्या कहूँ मैं तुमसे,
स्पर्श करते हैं जब मेरे ओंठ
तुम्हारे ओठों के दहकते पद्मराग,
और आग के एक ही चुम्बन में
हमारी आत्माएँ एक हो जाती हैं द्रवीभूत हो कर,
वैसे ही कि जैसे अरुणोदय से
द्रवीभूत हो कर अंधकार दिवस में बदल जाता है –
संसार कर जाता है पलायन और पलायन कर जाता है समय,
और जब मुझको आप्लावित कर देता है
पारलौकिक जीवन,
अपने चरम परमानन्द के रहस्यों से–
क्या कहूँ मैं तुमको ?

क्या कहूँ मैं तुमसे
हर्षोल्लास की परम प्रिय माँ,
मनोराज्य की परी-पुत्री
आकाश को झकझोर देने का जिसने साहस किया है –
सत्य के चमत्कृत कर देने वाले सौंदर्य के समक्ष लज्जावनत हैं मेरे
उद्दंडतम सपने !–
मेरी अन्तरात्मा की एकमात्र निधि,
संशय की मधुरतम निधि,
ऐसी मनहर, मधुर जवान.....
मेरी परिणीता पत्नी,
क्या कहूँ मैं तुमको ?

अपनी डायरी में उसने जन-उभार को देखकर, बड़े ही मार्मिक शब्दों में, उसे चित्रित किया है वह लिखता है–

'सागर लहरा उठा है उत्ताल तरंगों से, जनता का सागर। जमीन और आसमान को कँपाये देती है अपने गर्जन-तर्जन के भयंकर उत्पात से। देखते हो न यह नर्तन! सुनते हो न यह संगीत? तुम जो आजतक इसे नहीं जान सके, अब सीख सकते हो कि जनता ऐसे कैसे मौज मारती है? सागर हरहराता है–दहाड़ता है। डगमाते हैं आगे-पीछे जहाज, अतल में समा जाते हैं वह, और मस्तूल और पाल छिन्न-भिन्न हो कर तहस-नहस हो जाते हैं।

तूफान बरपा करो, तुम जलप्लावन-तूफान,
बरपा करो अतल से-अथाह से उमड़ पड़ो, ऊपर बादलों तक पहुँचा दो
अपने मदोन्मत फेन-पुञ्ज।
आसमान में लिख दो इसे अनंत काल तक,
अनवसित रहने के लिये,

जहाज इसपर भी सबका स्वामी है, जल के ऊपर चले, जल-प्रवाह नीचे रहे।' अपने देश हंगरी की मुक्ति के जन्म-दिन पर उसने उसके अभिवादन में लिखा–

'तुम सुन्दर हो, दूसरे देशों की अपनी बहनों से तुम सुन्दरतर हो, क्योंकि तुम रक्त-स्नाता नहीं, हर्षाश्रु से प्रक्षालित हो जैसा कि वे नहीं हैं। तुम्हारे पालने की तकियायें अकड़ गई ठंडी लाशों की नहीं, वरन् गरम धड़कते दिलों की हैं। शुभरात्रि! जब मैं नींद में सो जाऊँ, तब तुम आओ मेरे सपनों में, वयस्क आयु का होकर, मनुजत्व प्राप्तकर, तेजस्वी और सम्मानित होकर, इस संसार में ठीक मेरी आशाओं के अनुरूप।'

एक बार वह जुलीस्का के साथ अपने कमरे में प्रणय-लीला में तल्लीन था। तलवार वहीं टँगी थी। उसे प्रेम-विभोर देखकर तलवार को जैसे ईर्ष्या हुई। इसी मानसिकता को उसने गद्य में इस प्रकार व्यक्त किया–

'हमारा हर्ष महान् है, हमारा आनंद महान् है, हमारी चमचमाती खुशी ऐसे

दमकती है, जैसे आबदार मोती। लेकिन हमारा यह हर्षोल्लास मेरी तलवार को रत्तीभर भी नहीं भाता। दीवार से ही यह हम दोनों को कुदृष्टि से देखती है।

तू बुढ़िया तलवार, इतनी कुपित दृष्टि से हमें क्यों देखती है ? अरे मूढ़ मति वृद्धा,क्या तू मेरी प्रेयसी के भाग्य से ईर्ष्यालु है? ओ बुढ़िया कामरेड, ईर्ष्या तुझे शोभा नहीं देती। अगर तुझमें मनुजत्व है तो औरत की तरह धूर्तता न कर।

तुझको तो मुझसे शंकालु होना ही नहीं चाहिये। तू तो अबतक मेरी प्रियतमा को भी जान गई है। तुझे उसकी मनोकामना का ज्ञान तो होना ही चाहिये, क्योंकि उस जैसी मनोभावना की कोई दूसरी स्त्री ईश्वर ने बहुत कम बनाई है।

अगर मेरी भुजाओं की, मेरे देश को जरूरत है तो वह (मेरी प्यारी) तुझे मेरी कमर में सुशोभित कर देगी और यह कहकर हम दोनों को विदा करेगी कि जाओ एक-दूसरे के प्रति वफादार रहो'।

इसी गद्य का प्रथमांश, सहज ही हिन्दी में कविता बन गया–

छत पर पंडुक
नभ में तारा
और गोद में
प्राणप्रिया!
मैं बाहों में उसे झुलाता जैसे
पुलकित पेड़ झुलाता
हर पत्ते से ओस।

बूदा कैसेल पर जब आस्ट्रिया का झण्डा फहरा तो पेटाफी को तहेदिल से चोट पहुँची। उसने अनुभव किया कि उसके चेहरे की ललाई जालिम के खून की लाली नहीं, वरन् उसके हृदय में व्याप्त हो गई शर्म की लाली है। यूरोप शांत हो गया था। उसकी क्रांतियाँ बुझ गईं थीं। उसे अपनी मुक्ति नहीं मिली। कायर देशों ने हंगरी को अपनी लड़ाई, अपनेआप ही, अकेले लड़ने के लिये छोड़ दिया था। हरएक हाथ में हथकड़ियाँ झनझना रही थीं। हंगरी के निवासियों के हाथों में ही तलवार टकराती थी।

वास्तव में पेटाफी की कविता, स्वतन्त्रता के संग्राम की जीत-हार के तीव्रतम द्वन्द्वों का आलेख बन गई।

सन् 1849 में, जैसे उसकी उपर्युक्त भावना ने सूचित कर दिया कि, अब उसका दुःखद अन्त समीप है, तभी उसने अपनी अन्तिम कविता और अपनी पत्नी के नाम अपनी अन्तिम चिट्ठी लिखी। तभी वह बलिदानी युद्ध के लिये चल पड़ा, उनसब आदर्शों के परिपालन में जिनके लिये वह जी रहा था।

31 जुलाई के भीषण रण में वह लापता हो गया। उसके पार्थिव शरीर का कुछ पता न चला। जनता में खबर फैल गई कि वह मरा नहीं, फिर लौटेगा। किन्तु वह न लौटा, न फिर आया। उसने लिखा भी इस प्रकार–

मैं खड़ा हूँ तुम्हारी समर-भूमि में
तुम्हारे आदमियों के साथ मेरी कम्पनी।
कविताओं से लड़ता हूँ मैं,
प्रत्येक कविता होती है
एक जुझारू युवा-सैनिक
जो मेरे साथ खड़ा है।

तबसे उसकी कविताओं को लोग पढ़ते चले आ रहे हैं। वह हृदय-हृदय में प्रविष्ट हो गई हैं, मानव शरीर का रक्त बन गई है, दिमाग में ऐसे छा गई है जैसे शताब्दियों की जुझारू जनता का उत्प्रेरक, घनघनाता नाद और निनाद। उसकी कविता प्रेम की अमर प्रतीक और शौर्य-मुक्ति की मूर्ति बन गई है। देश-देश में पहुँचकर अनूदित होकर प्रख्यात हो चुकी है वह।

अंग्रेजी में, सबसे पहले, सर जान ब्राउनिंग ने उसपर एक कविता लिखी–

वह न था पुच्छल तारा
क्योंकि वह नहीं लिखता था
दूर से पढ़ी हुई गौरव-गाथा की सुनहरी पंक्तियाँ–
वरन् वह था
महाकाश के प्रकाशों में से एक प्रकाश जो केन्द्रीय नक्षत्रों में
स्वयं एक केन्द्रीय नक्षत्र हो गया था।

पेटाफी के निधन पर इटली के महाकवि Carducer ने लिखा कि वह 'ग्रीक गॉड' की तरह लोप हो गया।

जर्मनकवि हेनरिक हेन ने पेटाफी को स्काटलैंड के परमप्रसिद्ध कवि राबर्ट बर्न्स के समकक्ष माना।

Thomasmaun ने पेटाफी को संसार के श्रेष्ठतम लिरिक कवियों की श्रेणी में गिना।

कारलाइल ने पेटाफी को गेटे के बराबर का कवि बताया।

पेटाफी की जीवन-लीला सेगेसवार के युद्ध-क्षेत्र में समाप्त हो गई। लेकिन वह योद्धा-कवि के रूप में विश्वविख्यात हो गया। उसने मुक्ति की प्राप्ति के लिये अपने को आत्मोसर्ग किया। कविता के लिये उसने अपने दिल और दिमाग को कनक-चंपक बनाकर पिघला दिया और वह एक महानतम् विश्व-वंद्य पुरुष बन गया।

हंगरी में शायद ही कोई नगर या ग्राम हो, जिसमें पेटाफी के नाम का कोई स्मारक न बना हो।

लगभग सभी साहित्यिक शब्द-कोशों में उसका उल्लेख मिलेगा।

❐

कविता के बारे में

कविता सृष्टि की सृष्टि होती है। सृष्टि की इस सृष्टि में सृष्टि का आंशिक प्रतिबिम्बन होता है। यह प्रतिबिम्बन सृष्टिकर्ता की चेतना करती है। चेतना रचना-प्रक्रिया से होती हुई अस्मिता प्राप्त करती है और उसकी यह अस्मिता भाषाबद्ध होती है। अतएव कविता, अपने भौतिक स्रोत के कारण एक ओर दृश्य जगत् का कोई-न-कोई पक्ष प्रस्तुत करती है, तो दूसरी ओर कवि की मानसिकता को! अतएव कविता वस्तुवत्तीय भी हुई और आत्मवत्तीय भी! अतएव कविता की सृष्टि का महत्व वस्तुजगत् के लिये भी हुआ और आदमी के आत्मजगत् के लिये भी! अतएव वही कविता एकांगी, अधूरी और अपूर्ण होगी, जो केवल एक ही जगत् को व्यक्त करेगी। केवल वस्तुवत्तीय कविता शाब्दिक फोटोग्राफी मात्र होगी। केवल आत्मवत्तीय कविता अहंमात्र की कृति होगी। कविता में, मात्र वस्तुजगत् की अभिव्यक्ति, उसको ठोस, ठस और अमानवीय बना देगी। वैसे ही कविता में मात्र आत्मजगत् की अभिव्यक्ति कविता को गूढ़, गहन, अभेद्य, असम्प्रेषणीय, और अग्राह्य बना देगी। मात्र वस्तुवत्तीय कविता जड़त्व की कविता होगी। मात्र आत्मवत्तीय कविता मात्र वैयत्तिक सम्पत्ति होगी—न जिसका कोई सामाजिक मूल्य होगा और न कोई स्थान देश-काल में होगा। उसका कोई सांस्कृतिक प्रदेश भी नहीं होगा और न वह किसी को उत्तराधिकार में प्राप्त होगी। अतएव कविता को एक तरफ जड़ता से, दूसरी तरफ वैयक्तिकता से द्वन्द्व करना चाहिये और तब उसे सांस्कृतिक चेतना की सार्वजनिक सम्प्रेषणीय इकाई बनना चाहिए। मैं कविता करता हूँ तो इसीके लिए करता हूँ। मेरा कोई अन्य उद्देश्य या लक्ष्य नहीं होता।—मेरी कविता में मेरा 'मैं' रहता तो है, पर वह मेरा 'अहं' मात्र नहीं होता—वह 'मैं' सामाजिक 'मैं' होता है। उस 'मैं' में मेरे माध्यम से दूसरे व्यक्तियों का 'मैं' भी होता है। कविता में व्याप्त मेरा 'मैं' समष्टि से संबद्ध 'मैं' होता है। तभी वह मेरा भी उतना ही होता है जितना दूसरों का होता है। मेरी कविता की अभिव्यक्ति दूसरों की आत्मीय अभिव्यक्ति भी होती है। उसे पढ़ कर दूसरे भी मेरी चेतना को अपनी चेतना बना लेते हैं और मेरी चेतना का दृश्य-जगत् उनकी चेतना का दृश्य-जगत् बन जाता है।

इसीलिए मैं कविता को मानवीय चेतना की दिशा और दृष्टि देनेवाली सक्षम इकाई मानता हूँ। इस इकाई के द्वारा ही यथार्थ और आदर्श की संगतियाँ और विसंगतियाँ निरूपित होकर आदमी को आदमी होने के लिए प्रेरित करती हैं, ताकि वह समाज स्थापित हो सके जो शोषणहीन हो, समता के आधार पर उत्तरोत्तर उन्नति करता रहे और विज्ञान व प्रविधि को आज की उपलब्धियों को सब 'जनहिताय' के लिए प्रयुक्त कर सके और सदा-सदा के लिए शान्ति की अवतारणा कर सके।

जो लोग इसके विपरीत यह कहते हैं कि ऐसी स्थिति मानवीय गरिमा के विरुद्ध है, वे लोग मानव की आदिम प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए ही वकालत करते हैं और अबतक की बनी हुई समस्त मानवीय उपलब्धियों को नकारते हैं और जंगल-युग को पुनः लौटा लाना चाहते हैं। यह सर्वथा अनुचित है।

कुछेक नये कवियों का कहना है— कविता कलात्मकता का परित्याग करे और उससे कोई सम्बन्ध न रखे और वह केवल बात या बतकही हो जाय। वह न रहे सुन्दर, न रहे आकर्षक, न रहे लयबद्ध, न रहे बिम्ब या प्रतीक, न रहे भाषायी इकाई, बस वह रहे तो केवल आक्रोश और गाली-गलौज मात्र। वह मात्र व्यक्तिपरक क्षणिक अनुभूतियों की आदिम मौलिक इकाई रहे। मैं इस स्थिति को दुर्भाग्यपूर्ण समझता हूँ और ऐसी कविताओं को जन-जीवन की कविताएँ नहीं समझता।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि कविता आदमी के जीवन की कविता हो, वह उसके यथार्थ और आदर्श के द्वन्द्व को व्यक्त करे। वह अभिव्यक्ति कलात्मक हो। कलात्मकता अमूर्तन से नहीं मूर्तन से निःसृत हो। कलात्मकता संबद्धता से गठित होने पर ही संप्रेषणीय होती है और सामर्थ्यवान होती है।

कवि का दायित्व है कि वह अपनी सृष्टि को सशक्त, सार्थक और मन-मोहक बनाए। उसका यह भी दायित्व है कि वह, महान् मानवीय गौरव और गरिमा की कलात्मक कृतियाँ प्रस्तुत करे। वह सपाट बयानी से—अखबार बयानी से—लन्तरानी से—गलत बयानी से—चमचागीरी से बचे और बार-बार बचे और यश के मोह या पैसे के लोभ में न बिके, न चुके!

कलात्मक होने का यह मतलब नहीं है कि कवि रूप-प्रकारवादी (Formalist) बन जाय, और उसी के लिए बलिदान हो जाय। कला मानवीय चेतना के उत्कर्ष के संदर्भ में ही अर्थवान और प्राणवान होती है।

अब भी आजकल देशी और विदेशी दिशाहीनता और दृष्टिहीनता कविता को अमानवीय बना रही है और उसके अमानवीय बनाने का क्रम जोर-शोर से चल रहा है। साप्ताहिकों, मासिक पत्रिकाओं, और पाक्षिकों में इसी प्रकार की कविताएँ छप-छपकर दिन-प्रति-दिन सामने आती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि आज के अधिकांश कवि, वैज्ञानिक और दार्शनिक समझदारी से अपने व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करते और अपने और दूसरों के बने-बनाये भुलावों में पड़े रहते हैं; और पुष्टप्राण की कविता को पकड़ सकने में असमर्थ होते हैं। वर्ग-भेद से बने समाज में आदमी भी वस्तु बन जाता है और इसीलिए स्वार्थ की सिद्धि के लिए यथास्थिति से, जाने-अनजाने में, समझौता कर लेता है।

मैं आश्वस्त हूँ कि आज के कवि निकट भविष्य में कथ्य और अकथ्य का भेद समझ सकेंगे और कलात्मक कविता की सृष्टि करने में लग जायेंगे।

आपातस्थिति की घोषणा के समय तक देश का व्यापक जन-जीवन बेहद बिगड़ गया था। चोरबाजारी लूटमलूट मचाये थी। छात्र न पढ़ते थे, न परीक्षा देते थे। वे असामाजिक आचरण करने लगे थे। भ्रष्टाचार भी चरम सीमा को पहुँच गया था।

प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ राजनीति के रंगमंच पर वह सबकुछ करने को तैयार थीं, जो अराजकता का भयंकर माहौल बना रहा था। तभी घोषणा के बाद देश के सामान्य जन-जीवन में एक प्रकार का तनाव-शैथिल्य आने लगा था और अराजक तत्त्वों का बोलबाला कम हो चला था। जनता ने चैन की साँस लेना प्रारंभ कर दिया था। सभी ने इस स्थिति को सराहा। आम आदमी इसी स्थिति में सुविधाएँ भी प्राप्त कर सकने में सक्षम हुआ।

इस सुविधा की स्थिति के समय अनेकानेक बुद्धिजीवियों ने भी सरकार के कई उठाये गये कदमों की सराहना की और कुछेक तो, समय के लिहाज से, सरकार के समर्थक भी बन गये। ऐसे बुद्धिजीवियों की मानसिकता, जनता की मानसिकता से जुड़ी हुई थी। उनकी यह मानसिकता सम-सामयिक थी और इस मानसिकता को अनुचित करार नहीं दिया जा सकता था। अब यह आवाज आज उठाना कि उन बुद्धिजीवियों को नक्कू बनाया जाए और उनकी भर्त्सना की जाय—मेरी समझ में शत-प्रतिशत नासमझी है। हाँ, वे कवि, जो इस स्थिति के बिगड़ने के बाद भी, पहले की सरकार के गलत कामों की पक्षधरता करते रहे और उसका साथ दे-देकर मान-सम्मान और धन लूटते रहे और जनता को पीड़ित और पराजित होते हुए देख कर भी चुप्पी साधे रहे, वे अवश्य ही सही नहीं थे। उनके बारे में जनता को अधिकार प्राप्त है कि वह उन्हें चाहे जो कहे। उस कहने का औचित्य है और उस कहने को बुरा नहीं माना जा सकता। प्रगतिशील लेखकों में से, मेरी जानकारी में किसी ने बिगड़ने की इस स्थिति के बाद के सभी सरकारी कामों का समर्थन नहीं किया। सही बात तो यह है, उनकी जमात ने ही सबसे पहले सरकारी जोर-जबर की निन्दा करनी शुरू कर दी थी। यह इस जमात के लोगों की सही समझ को व्यक्त करती है।

अब, जब आपातस्थिति की घोषणा करनेवाली सरकार का पतन हो चुका है और जनता-सरकार की स्थापना हो चुकी है, तब समझदार साहित्यिकों का यह दायित्व हो गया है कि वह इस नई सरकार के कामों की जाँच-पड़ताल करें और उसके जनवादी सही कार्यक्रमों का समर्थन करें और यदि वह कोई जनविरोधी कार्य करे, तो उसकी तीव्र आलोचना करें और उसका प्रतिबिम्बन अपनी कृतियों में भी अवश्य, अवश्य करें।

जहाँतक मैं समझता हूँ, प्रत्येक प्रगतिशील लेखक इस दायित्व के निबाहने में अपने को सक्षम पाता है। निश्चय ही वह, इस दायित्व-बोध की अभिव्यक्ति, कलात्मक ढंग से, अपनी कृतियों में करेगा।

जनता, सरकार के इस नये दौर में कुछेक पुराने प्रगतिशील-विरोधियों ने अब अपना पुराना विरोधी मोर्चा फिर सम्हाल लिया है और गाहे-बगाहे प्रगतिशीलों को कोसने लगे हैं। उनकी कोसने की बातों में कोई सार नहीं होता। वे जो कुछ भी विष-वमन करते हैं, वह उन्हीं की कुण्ठित मानसिकता का परिचायक होता है। ऐसे विष-वमन से निश्चय ही आम पाठक की चेतना विकार-ग्रस्त हो सकती है और आरोपित भ्रम का शिकार होकर विकृत हो सकती है। मुझे पूरा विश्वास है कि प्रगतिशील लेखक ऐसे विरोध का मुँह-तोड़ उत्तर देंगे और जनता की चेतना को दिग्भ्रमित होने से बचाएँगे।

❐

गीत : अपने ऐतिहासिक विकास क्रम में

गीत भी, कविता की अनेक विधाओं में से एक विधा है। इस विधा में व्यक्त हुई कविता गेय होती है; इसलिए गीत की पहचान उसकी गेयता में निहित होती है; इसलिए गीत तभी गीत है जब वह गेय हो; इसलिए जो कविता गेय नहीं है, वह गीत नहीं है।

कविता के गेय होने का मतलब है कि उसमें गान के तत्त्व हों और वह गायी जा सकती है। गान के वह तत्त्व, जो कविता को गेयता प्रदान करते हैं, उसकी लय में प्रवाहित रहते हैं और लय में प्रवाहित रहना ही उनका अचूक धर्म और आचरण है। इसलिए बिना गान के तत्त्वों की लय की कविता गीत नहीं हो सकती।

गान के वह तत्त्व –लय में प्रवाहित वह तत्त्व–गीत में सन्नद्ध शब्दों की व्यवस्था कायम किये रहते हैं। वह व्यवस्था स्वर-मुखर व्यवस्था होती है। उस स्वर-मुखर व्यवस्था में व्यंजनों के उच्चारणों के रूप (आकार) प्रतिष्ठित रहते हैं। उच्चारणों के उन्हीं रूपों (आकारों) की संहति लय का नाम पाती है। उस संहति में आदमी की साँस की एक निश्चित लम्बान-चौड़ान और ऊँचान-नीचान होती है। उस संहति में सन्नद्ध शब्दों के अक्षर-अक्षर के बीच का अन्तराल ह्रस्व और दीर्घ स्वरों से भरा रहता है और इसी प्रकार शब्द-शब्द के बीच का अन्तराल भी वैसे ही स्वरों के भराव से भरा रहता है। यदि स्वरों का भराव न हो तो अक्षर-अक्षर के बीच की दूरी तय करना कठिन होगा। भराव के अभाव में शब्द-शब्द के बीच की दूरी भी तय करना कठिन होगा।

इसलिए गेयता, और कुछ नहीं, गीत की गतिमयता है। गीत की यह गतिमयता जब स्वरों के भराव से एक सुनियोजित क्रमबद्धता पा लेती है, तब संगीतात्मक हो जाती है।

संगीतात्मक हो जाने का मतलब है कि गीत को उसका सुनियोजित प्रवाह मिल गया है और वह गाया जा सकता है। कोई भी, कभी भी, उसे गाये तो उसे उसी प्रवाह से गाना होगा। उस प्रवाह की दिशा निर्धारित होती है। निर्धारित दिशा से उच्चरित हो कर ही गीत ग्रहणीय होता है और ग्रहण करने वाले पर अपना प्रभाव डालता है।

लेकिन गीत मात्र-संगीत की अभिव्यक्ति या इकाई नहीं होता। जो गीत मात्र-संगीत की अभिव्यक्ति या इकाई होता है, वह काव्य का गीत नहीं होता; वह तो मात्र-ध्वनियों का नियोजित प्रवाह होता है। काव्य के गीत और संगीत के गीत का यह स्पष्ट अन्तर कभी अवहेलित करने योग्य नहीं है।

काव्य के गीत में काव्य का होना अनिवार्य है। अनिवार्य यह भी है कि वह कथ्य शब्द और अर्थ की संश्लिष्ट और संपृक्त इकाई होकर दूसरों के लिए अभिव्यक्तिशील हो जाए। संगीतात्मकता काव्य के गीत की लय को अधिक स्वर-मुखर बनाती है और अपने सूक्ष्म अमूर्तन (एब्स्ट्रेक्शन) से कथ्य को अधिक स्पंदनशील कर देती है। यही नहीं, कथ्य को कविता के तत्त्वों के अलावा भी संगीत का एक और आयाम सुलभ हो जाता है। उस आयाम से कविता का कथ्य गीत के रूप में ढल जाता है। ऐसे ढलने में—गीत का रूप पाने में—कविता में आकाश-तत्त्व अधिक आ जाता है और इस तत्त्व के समाहित होने से वह साधारण कविता से, कहीं अधिक मात्रा में, ध्वनिपरक होकर, दूर-दूर तक देश-काल और मानव-मस्तिष्क में व्याप्त हो जाती है और अपना चेतन और अचेतन प्रभाव दीर्घकाल तक डाले रहती है।

निश्चय ही गीत की गतिमयता का—गेयता का—संगीतात्मकता का यह तत्त्व गीत के कथ्य को व्यंजित करनेवाले शब्दों के संघटन से निरूपित और निबद्ध होता है। गीत को व्यंजित करनेवाले शब्द उसकी गतिमयता—गेयता—संगीतात्मकता के तत्त्व से संबद्ध होने के लिए विवश होते हैं और समर्पित होते हैं और तब कहीं संघटन का कृति-रूप पाते हैं। मतलब यह कि गीत का कथ्य-तत्त्व और गेयता-तत्त्व एक-दूसरे के नियामक और निर्धारक होते हैं। उनमें एक-दूसरे के प्रति प्रगाढ़ आत्मीयता होती है। एक के बिना दूसरा जी नहीं सकता, पूरा विकास नहीं कर सकता। एक का पर्यवसान दूसरे का पर्यवसान होता है।

इसलिए गीत के गेय-तत्त्व को, गीत से अलग, उसके कथ्य से अलग करना मूलभूत भूल होगी। वैसे ही गीत के कथ्य-तत्त्व की, गीत से अलग, उसकी गेयता से अलग व्याख्या करना मूलभूत भूल होगी। उन दोनों तत्त्वों का आकलन उनके संयुक्त और संपुष्ट रूप में ही करना होगा।

गीत अपने जिस रूप और अर्थ में आज गीत स्वीकार किया जाता है, अपने उस रूप और अर्थ में वह पहले स्वीकार नहीं किया जाता था। कारण यह था कि पहले कभी वह सम्भावनाएँ उत्पन्न नहीं हुई थीं, जो सम्भावनाएँ आज उत्पन्न हो चुकी हैं और गीत को अपने अनुरूप गढ़ रही हैं। गीत भी अपने रूप और अर्थ के लिए परिवेश पर उतना ही निर्भर होता है, जितना आदमी और आदमी के कर्म और भाव और विचार, परिवेश पर निर्भर होते हैं। इतिहास की युगीन-प्रवृत्तियाँ आदमी के युग-बोध को और उसकी कला-क्षमता को अधिक-से-अधिक प्रभावित करती हैं। गीतकार का व्यक्तित्व अपने युग के इतिहास की सीमाओं में बनता है। यदि गीतकार सशक्त और समर्थ हुआ तो उसका व्यक्तित्व भी अपने युग के इतिहास को बनाता है। वैसे साधारणतया, वस्तुस्थिति यही है कि गीतकार अपने युग से प्रभावित रहा करता है और जो भी वह देता है, अपने युग के अनुरूप ही देता है। गीत के कथ्य और शिल्प दोनों ही युग-बोध को ही रूपायित किये रहते हैं।

पहले—यानी बहुत पहले—हिन्दी में कविता ही गायी जाती थी। यह कविता,चाहे

मात्रिक हो या वर्णिक, इसका कोई असर उसके गाये जाने में नहीं पड़ता था। संगीतज्ञ उसे गाते थे। जन-साधारण भी उसे, अपनी क्षमता के अनुसार, गाने की तरह गुनगुना लेते थे। वाद्ययंत्रों के साथ भी वह गायी जाती थी। तब इस बात का भी ध्यान नहीं रखा जाता था कि गेय कविता को वर्णनात्मक या तथ्यपरक न होना चाहिये, बल्कि उसे आन्तरिक मनोवेगों की अभिव्यक्ति करनी चाहिये। गायक का कण्ठ उन कविताओं को अपने संगीत से बाँध लेता था। वह ताल और तान से निबद्ध होकर गेयता का तत्त्व पा लेती थी। जब वह गायी नहीं जाती थी, तब वह मात्र-छन्द रहती थी। कवित्त और सवैये भी बड़ी खूबी से संगीतपरकता पा लिया करते थे। तब छन्दों से अलग गीत का अपना-निजी अस्तित्व न था। यह भी होता था कि संगीत की रागिनियों में—रागों में—कुछेक कुशल गायक कुछ कथ्य समाहित कर लेते थे और उन्हें ही संगीत की कृति के रूप में उनके अनुयायी शिष्य गा-बजा लेते थे। तब भी लोकगीत थे; परन्तु वे काव्य के अन्तर्गत नहीं आते थे। काव्य की मान्यताएँ उनके प्रतिकूल थीं। अतएव ये लोकगीत जन-साधारण के दैनिक मानस का मनोरंजन करते रहे। उन्हें तबतक साहित्यिक प्रतिष्ठा नहीं मिली थी। कविगण काव्य के सिद्धान्तों के आधार पर ही कविताओं का सृजन करते रहे। वे लोग लोक-धुनें लेकर कविता की रचना करने में संलग्न नहीं हुए। वह कविताएँ चाहे देवी-देवताओं से सम्बन्धित हों, चाहे निराकार अथवा साकार ब्रह्म से हों-या 'प्रेमी परमात्मा' और 'प्रेयसि आत्मा' से हों—सब-की-सब—काव्य की मूल मान्यताओं के मानदण्ड पर ही आधारित होती थी। 'आल्हा' भी ढोलक और मृदंग के साथ गाँव-गाँव में गाया जाता था। वीर रस के निरूपण में छन्द-के छन्द शब्दों की ध्वनियों से झनझना उठते थे। तेग-तलवार की चाल और चमक बिजली को भी मात करने में सक्षम होती थी। सेनाओं की उमड़-घुमड़ को और उनके वेग और बल को घनघोर बरसात के बादलों की घटा का घमंड भी नहीं लजा सकता था। वीर योद्धाओं की मूर्तियाँ ऐसी गढ़ी जाती थीं कि स्वयं वीररस की मूर्ति तक तुच्छ जान पड़ने लगती थी। युद्ध-स्थल के वर्णनों में भी अपरिमित काव्य-कौशल का परिचय दिया जाता था। वीररस के कथ्य में यही सब व्यंजित होते थे। उसके कथ्य के द्वन्द्वों को चारण-कवि और संगीतज्ञ गा-बजाकर गीत जैसा अस्तित्व दे देते थे। रसराज शृंगार को प्रतिष्ठित किये छन्द भी अपने कथ्य में अनेकानेक नायक-नायिकाओं की मुद्राओं को ही समाहित किये रहते थे। नायक लोभी, लालची, रूपासक्त, वासना-विलास-भोगी होते थे। नायिकाएँ काम-कला की सार्थकता सिद्ध करने में अपने सम्पूर्ण आंगिक, वाचिक और मानसिक अस्तित्व का खुला कामुक प्रदर्शन करती थीं। छन्द-के-छन्द उनके देह-सौन्दर्य की यष्टि बन जाते थे। प्रकृति उनके रमण करने के लिए ही उद्दीपित दिखायी जाती थी। ये छंद भी बड़े चाव से सुमधुर कण्ठों से राजदरबारों में गाये-बजाये जाते थे। वहसब अब भी लोक-जीवन में—गाँव-गाँव में—मधुर स्वर से गूँजते पाये जाते हैं। उन पदों को ही आज के गीत का पूर्वज कहना न्यायसंगत होगा। वे ही तब गेय-तत्त्वों को पाकर हवा में तैरते पाये जाते थे और वे ही नर-नारी (दोनों) के कण्ठों से निकलकर मन की व्यथा, मन का अनुराग, मन की दीनता, दयनीयता, आत्मनिवेदन, आत्म-समर्पण, आराध्य के प्रति आराधना आदि सूक्ष्म

मनोभावनाएँ व्यक्त कर रहे होते थे। वे ही भक्त को भगवान् से जोड़ते थे। वे ही दीन-हीन को जीने की आस्था देते थे। राम, रहीम और कृष्ण उनमें ही निरूपित हो कर जन-मानस के हृदयेश्वर बन गये थे। उनकी लीलाओं से वलयित वे पद केवल गेय होकर ही देश-काल में गूँजते रहे। पद, वास्तव में, उस युग के गीत हैं। गेयता में उनकी बराबरी छन्दों में लिखी और गायी गयी कविताएँ नहीं कर सकीं—काव्य की पारम्परिक रूढ़ियाँ पदों में भी आयीं, पर उस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक वे और कविताओं में आयीं। पद, फिर भी सहजता, स्वाभाविकता और निश्छलता से छलकते रहे। इसलिए वे जनता के गले लगे रहे और आज भी गेय बने गुनगुनाये जाते हैं।

गेय पद अगेय छन्दबद्ध कविताओं से कई बातों में भिन्न और विशिष्ट होते थे। गेय पदों की बुनावट अन्य कविताओं की बुनावट से गझिन कम और आत्मपरक अधिक होती थी। गझिन-कम की बुनावट के पद साधारणतया आदमी की सहज स्वाभाविक प्रवृत्तियों के पद होते थे। उनके बनानेवाले काव्य के सिद्धान्तों के आचार्य नहीं होते थे। पदों के रचयिता जीवन भोगते थे और अपने भोगे हुए जीवन को जीवन की वाणी में व्यक्त करते थे। इसके विपरीत काव्य की रीतियों के अनुयायी कवि जीवन को, उन रीतियों के सन्दर्भ में देखते, सुनते, समझते और पकड़ते थे और उन्हीं के सन्दर्भ में उसे विशिष्ट बनाकर कविता का रूप देते थे। इस वजह से गेय पदों में जीवन की झाँकी कुछ और होती थी और अगेय छन्दबद्ध कविताओं में कुछ और रही होती थी। काव्य की रीतियाँ, काव्य के सिद्धान्त, काव्य के अलंकरण, काव्य के संस्कार सबकुछ आदमी की सहज वृत्तियों की प्राकृत स्थिति में मूलभूत परिवर्तन कर देते थे। परिणाम यह होता था कि आदमी की सहज वृत्तियाँ व्यक्त होकर आदमी की सहज बोधगम्यता से दूर चली जाती थीं और विशिष्ट व्यक्तियों की सम्प्रेषणीयता पा लेती थीं। तभी अगेय छन्दबद्ध कविताओं की सम्प्रेषणीयता गुणज्ञ सामाजिकों की रुचि को तुष्ट करती थीं। पदों की सम्प्रेषणीयता जन-साधारण की रुचि को तुष्ट करती थी। जब राज-दरबार में काव्य-गोष्ठी होती थी, तब वाणी का वैभव-विलास राजा की राजकीय मनोवृत्तियों की तुष्टि के लिये होता था। उस राज-दरबार का सम्पर्क जनता के जीवन से नहीं होता था; अतएव पदों का वाचन और पाठन राजदरबारों में नहीं होता था; अतएव पदों के गायकों को राज-दरबार का कवि नहीं बनाया जाता था। जनता ही—राज-दरबार से बाहर—उन पदों के गायकों को आश्रय देती थी और उसी में रहकर, इसी के सुख-दुःख में वे डूबे रहते थे। हाँ, मन्दिरों के प्रांगणों में भी उन्हें अपने पद गाने का सुअवसर सुलभ होता था। जब पद-गायक किसी देव-स्थान से सम्बद्ध हो जाता था, तब उसके पदों में धर्म-विशेष की छाप भी पड़ने लगती थी और तब ऐसी स्थिति में उसके पदों से मानवीय सहजता विलुप्त होने लगती थी। चाहे राज-दरबार हो, चाहे देवस्थान, वहाँ पहुँचकर कवि सहज स्वाभाविक वृत्तियों का कवि नहीं रह जाता था। इसलिए गेय पदों में भी बहुत से ऐसे पद मिलेंगे जो धर्म के संस्कारों से संस्कृत हो चुके हैं और अपने मूल गेय स्वरूप से दूर पहुँच चुके हैं। धार्मिकता, पदों की गेयता को, धार्मिक संस्थानों की अपनी मान्यताओं से एक-दूसरे

प्रकार की गेयता में बदलती देखी गयी है। उस बदली गेयता में जो मानवीय प्रवृत्तियाँ व्यंजित होती देखी गयी हैं, वह उदात्त भले ही रही हों—दैवी भले ही रही हों; मानव-मानव के जागतिक सम्बन्धों की व्यंजक होती कदापि नहीं देखी गयीं। उस गेयता से मानव-से-मानव जुड़ता नहीं देखा गया। उस गेयता का प्रमुख लक्ष्य रहा है कि वह धर्म की ध्वनि से, मानव को मानव की हैसियत से नहीं, बल्कि एक धार्मिक को दूसरे धार्मिक से जोड़ती रहे। यही उसने किया भी। उस किये का परिणाम यह हुआ कि गेय पदों के विभिन्न धार्मिक गेय स्वरूप हुए। कभी-कभी यह भी हुआ कि भिन्न धर्मावलम्बियों के गेय पद एक-दूसरों से टकराये और त्याज्य भी समझे गये। यहसब इसलिए हुआ, क्योंकि आदमी जीवन जीने के बजाय धर्म जीने लगा था। ऐसी दशा में पदों के सहज स्वर का धार्मिक स्वर हो जाना स्वाभाविक था।

कुछ हदतक ऐसे होने की विवशता थी। उस विवशता से इनकार नहीं किया जा सकता; लेकिन जब धार्मिक प्रवृत्तियाँ रूढ़ हो जाती हैं और उनकी रूढ़िवादिता सहज मानव के मन को दबोच लेती है और उसपर भरपूर हावी हो जाती हैं, तब उस रूढ़िवादिता से पदों की गेयता में भी भारी अन्तर आ जाता है और यह अन्तर इतना स्पष्ट हो जाता है कि गेय पद भी अगेय कविता की तरह हो जाते हैं। वह गाये भले ही जाएँ, लेकिन उनकी गेयता सहज स्वाभाविक मानवीय गेयता नहीं होती। काव्य का इतिहास इसे प्रमाणित कर चुका है। धार्मिक मानव की मानवीयता सहज मानव की मानवीयता से अलग रूप और प्रकार की होती देखी गयी है। तभी तो जो सहज मानवीयता मीराँ और सूर के पदों में गेय होकर व्यक्त हुई है, वह अधिक बोधगम्य, सम्प्रेषणीय और संवेदनशील है बजाय उस मानवीयता के जो धर्मानुयायी कवियों ने अपने धार्मिक पदों में रोप-बनाकर प्रस्तुत की थी। मतलब यह कि पदों की गेयता वास्तव में सहज मानव के जागतिक सम्बन्धों की गेयता होती है, जो आगे चलकर आज के युग की गीत की गेयता में परिणत हो जाती है।

वैसे शब्दों का लालित्य और उनका चयन कविताओं और गेय पदों को रुचिकर बनाता अवश्य है; परन्तु वही-वही कविता और गेय पद के अस्तित्व का मूलाधार नहीं है। भाषा का अपना रोल होता है, उसका यह रोल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी होता है। कविता और गेय पद उपयुक्त और अर्थवन्त भाषा की वजह से निखरे हैं। लेकिन निखार—भाषा से आया निखार—जब अपने आप में एक कौशल बन जाता है और उस निखार के लिए ही कविता और पद रचे जाने लगते हैं, तब मानवीय अनुभूतियों की सहजता बिसार दी जाती है और फिर एक ऐसा समय भी आता है जब कविता और पद सहज नहीं रह जाते। इसलिए पदों के विषय में यह विशेष रूप से जानना आवश्यक है कि भाषा का खिलवाड़ पदों की मौलिक, सहज, प्राकृत प्रवृत्ति को मार न डाले। कवि-कर्म के नाम पर—श्रेष्ठ काव्य के नाम पर—उदात्तीकरण के नाम पर—पदों की हत्या किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं ठहरायी जा सकती। गेय पद को छंद-बद्ध कविता के स्तर तक पहुँचाना उसे नरक में डालने के समान है। उसे नरक में डालने का मतलब है कि

उसकी गेयता को सहज से जटिल, मुक्त से पराधीन और प्राकृत से कृत्रिम बना दिया जाए। यह खिलवाड़ छंदबद्ध कविता में खूब खेला गया है और वहाँ सराहा भी खूब गया है। इस खिलवाड़ को वहीं तक सीमित रखना चाहिये। देखा भी गया है कि इस खिलवाड़ में पड़ कर बनाये गये पद जनता के अपने गेय पद नहीं हो सके। सिद्धान्त और विद्वत्ता गेयता की गतिमयता का प्रवाह रोकते हैं। पद की प्रारम्भिक टेकवाली पंक्ति उसके अन्ततक उसका साथ नहीं छोड़ती। वह बार-बार आती हैं और अन्य पंक्तियों के बीच में गूँजती रहती हैं। वह टेक पूरे पद का प्राणवन्त तत्त्व या सार-तत्त्व होती है। पद का रचयिता उस टेक को इसीलिए पहले ही—आरम्भ में ही—रख देता है कि जैसे उसको उस टेक का मर्म मिला है, वैसा मर्म दूसरे को भी तुरन्त मिल जाए। वह मर्म इतना आत्मीय होता है कि उसकी पुनरावृत्ति से, व्यंजित भावनाओं को, उसके सन्दर्भ में ग्रहण करने से, विशेष संवेदनशील हो जाना पड़ता है। कवित्त और सवैयों में ऐसा नहीं होता। उनमें तो अन्तिम चरणों में पहुँचकर ही मर्म खुलता है। पहले के चरण, अपने कथ्य और शिल्प से, उस मर्म तक पहुँचाने की भूमिका या पृष्ठभूमि ही तैयार करते हैं। तभी तो कवित्त या सवैया की समाप्ति पर एक आकस्मिक सुख मिलने की-सी अनुभूति होती है। ऐसे कौशल की आवश्यकता पदों के स्वभाव के अनुकूल नहीं पड़ती। तभी तो वह शुरू से ही खुलकर खिल उठते हैं और टेक के बाद की पंक्तियों में उनके खुलने और खिलने का वितान ही तना मिलता है। वह वितान टेक को विस्तार देता है और टेक उस विस्तार को बराबर ऊपर उठाये रहती है। यही नहीं, टेक की गतिमयता पद के अन्त तक चालू रहती है और वर्णित अथवा व्यंजित कथ्य और शिल्प को दुहरी गतिमयता देती रहती है।

जैसे छन्द-बद्ध कविताएँ काव्यात्मकता ओढ़ लेने के बाद फिर रीति और रूढ़ि की ओर प्रयाण कर गयी थीं; वैसे ही गेय पद भी सिद्धान्त और धार्मिकता ओढ़ लेने के बाद फिर धर्माचार और संकीर्तन की ओर प्रयाण कर गये थे। दोनों ही अग्रगामी हुए थे, पर दोनों ही अतिशयता के आवेश में अपने-अपने मूल अस्तित्व से पराङ्मुख हो गये थे। वास्तव में दोनों की दुर्गति हो गयी थी। छन्द-बद्ध कविताएँ मात्र भाषायी इकाइयाँ बन गयी थीं। वह शाब्दिक और आर्थिक जटिलताओं से जड़ हो गयी थीं। गेय पदों की गेयता में आदमी के प्राकृत स्वभाव की गेयता नहीं रह गयी थी। गाये गये पदों से अन्धविश्वासी आदमी का कायर मन सिसकता और रिरियाता रहता था या धर्मान्ध, लोक-विमुख और परोक्षगामी आत्मा का जप और जाप फुसफुसाता और बुदबुदाता रहता था। दोनों ही दीन-हीन और मलिन हो गये थे।

ब्रजभाषा पदों की गेयता को मधुर और सहज बनाये रखने में समर्थ थी; इसलिए पदों की रचना उसी भाषा में हुआ करती थी।

बाद को जब खड़ी-बोली का प्रसार और प्रचार व्यापक हुआ, तब पदों की रचना का स्रोत सूखने लगा और उनका लिखा जाना रुकने लगा। जन-साधारण में वही पुराने पद गाये-बजाये जाते रहे, जो शताब्दियों से गाये-बजाये जाते रहे हैं। पदों का विकास-

क्रम अवरुद्ध होकर रह गया। इस अवरोध से गेय कविताओं को फिर से नया जन्म पाकर गूँजने के लिए दीर्घकाल तक इन्तजार करते रहना पड़ा। छायावाद के आने पर निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी के आनेपर एक बार फिर से हिन्दी-काव्य में गेय कविताओं का उद्‌भव हुआ। खड़ी-बोली में उन्हें लिखा जाने लगा। उनका नया रूप पदों के रूप से भिन्न हुआ; लेकिन टेक—आरम्भ की प्रथम पंक्ति—फिर भी नयी गेय कविताओं में बराबर बनी रही। और तो सब-कुछ बदला, पर पदों की यह टेक पीछा न छोड़ सकी। उन नयी गेय कविताओं को काव्य-जगत् में 'गीत' की संज्ञा दी गयी। गीत चल पड़े। तमाम लोग गीत लिखने लगे। सफलता पायी केवल उन्हीं ऊपर के चार छायावादियों ने।

छायावादियों के गीत अपने कथ्य और शिल्प में पहले के पदों से नितान्त भिन्न होकर सामने आये। निराला ने सहज-से-सहज और परुष-से-परुष गीतों की रचना की और उन्हें कवि-सम्मेलनों में गाकर सुनाया और ग्राह्य बनाया। उनके गीतों की भाषा कहीं तत्सम शब्दों की है; तो कहीं दैनिक बोलचाल के शब्दों की। उनका हर गीत केवल उन्हीं का है—किसी दूसरे का नहीं है। मतलब यह कि वैसे गीत कोई दूसरा नहीं लिख सका। उनके गीतों का कथ्य कहीं प्रकृतिमुखी है, तो कहीं जनमुखी है, तो कहीं परिवेशमुखी है, तो कहीं जीवनमुखी है, तो कहीं दर्शनमुखी है, तो कहीं आदर्श और यथार्थमुखी है। उनके कथ्य के स्रोत अनन्त हैं। इसी प्रकार उनके गीतों का शिल्प भी तरह-तरह का है। निराला एक गीत का शिल्प दूसरे गीत में नहीं लगाते। हर गीत का कथन तदनुरूप शिल्प में ही ढलता है। कथ्य और शिल्प दोनों एक-दूसरे को पूर्ण विकसित किये रहते हैं। दोनों का सामंजस्य निराला के श्रम का परिणाम होता है। निराला पहले तो कथ्य को जीवनमय कर प्राप्त करते हैं और फिर उस पाये हुए कथ्य को अपनी गाढ़ी कमाई से कमाये हुए शिल्प से रूपायित करते हैं। उनके गीतों की अपनी बुनियाद होती है—उनका अपना इमारती नक्शा होता है। अपनी लम्बान-चौड़ान ऊँचान होती है; और उनकी अपनी शुरुआत और समाप्ति होती है। वह रोमानी हुए भी तो सहज स्फुरण से रोमानी नहीं होते। उनका रोमान भी बनाया, सँवारा और सजाया जाता है। उनके रोमानों को उपलब्धि की कृति का रूप दिया जाता है। निराला सचेत, सजग,सधे, नियामक और निर्णायक शिल्पकार हैं। कथ्य और शिल्प उनको नहीं, निराला उन्हें गढ़ते हैं। निराला के गीतों में आदमी का सांस्कृतिक भावबोध भरा रहता है। वहाँ सहज-साधारण आदमी अपना सहज साधारण मन नहीं खोलता। पदों में व्यक्त होनेवाली सहज मानवीय प्रवृत्तियाँ वहाँ व्यक्त नहीं होतीं। हरेक गीत में निराला बोलते हैं। उनके वे बोल दूसरों के लिए होते हैं। उन बोलों को सुनकर दूसरे भी निराला की दृष्टि पा जाते हैं। निराला के गीतों की सम्प्रेषणीयता पाठक को अर्जित करनी पड़ती है। तब जाकर कहीं गीत पाठक की पकड़ में आता है। जो साधारणीकरण आम तौर से वर्णनात्मक कविताओं का गुण होता है, वह निराला के गीतों का गुण नहीं होता। निराला के गीतों का साधारणीकरण दूसरे प्रकार का होता है। वह साधारणीकरण, विशिष्ट इन्द्रिय-बोध के द्वारा सांस्कृतिक इकाइयाँ बनकर जनसाधारण से दूर जा पड़े हैं, फिर भी

इन्हें गीत ही माना जायेगा; क्योंकि गेयता–गीत का मुख्य गुण–इनमें है और यह गाये और बजाये भी जा सकते हैं। इनकी गेयता के प्रवाह में छायावादी युग का नवजागरण और सांस्कृतिक नवोन्मेष है। इनमें काव्य की रूढ़ियों का खिलवाड़ नहीं है। शब्दों को इसलिए नहीं अपनाया गया कि वह सुनने में सुन्दर लगते हैं अथवा उनका प्रयत्न भाषायी सौन्दर्य है। शिल्प इसलिए नहीं अपनाया गया कि वह अपनी लय से मोहता रहे। हाँ, यदि इनमें गेयता न होती तो इन्हें, गीत की संज्ञा देने पर भी वास्तव में गीत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता था।

एक खूबी और है इन गीतों की। इनमें भारतीय काव्य की समस्त उपलब्धियों का नया विस्तारण और प्रसारण भी हुआ है। इस विस्तारण और प्रसारण में काव्य की पारम्परिक मूल्यगत मान्यताएँ भी आयीं, परन्तु प्रगति के पथ पर चलने के लिए आयीं और प्रगति को प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध हुईं। पदों की वह गेयता जो सहज मानवीय स्वभाव की गेयता थी खो अवश्य चुकी थी; लेकिन उस गेयता के स्थान पर निराला ने खड़ी बोली के गीतों की गेयता देकर उस क्षति की पूर्ति कर दी। युग बदल चुका था। आदमी का रागबोध भी बदल चुका था। इसलिए छायावाद के युग में पदों की गेयता बनी भी नहीं रह सकती थी। पदों की गेयता सांस्कृतिक नवोन्मेष की गेयता बन गयी। निराला ने यह काम किया और इसके लिए हिन्दी उनकी ऋणी है।

प्रसाद के गीत दूसरे प्रकार के हैं। उनके गीतों में अतीत का वैभव-विलास नाटकों के पात्रों के कंठ से प्रवाहित होता है। उनके अनेकानेक गीतों में हृदय की अनेकानेक मानवीय धड़कनें सुनायी पड़ती हैं। उनके कथ्य को प्रसाद वैसे नहीं प्राप्त करते, जैसे अपने कथ्य को निराला प्राप्त करते थे। उनके शिल्प को प्रसाद वैसे नहीं सँवारते, जैसे अपने शिल्प को निराला सँवारते थे। दोनों की रचना-धर्मिता अलग-अलग ढंग की है। प्रसाद चिन्तन के धरातल पर पहुँचकर वहाँ से गीतों का कथ्य लाते हैं और उसे सहज ही स्वभावगत तत्परता से ऐसे शिल्प में रूपायित कर देते हैं, जो उन्हें पहले से प्राप्त हो चुका होता है। प्रसाद शिल्प की कमाई नहीं करते। प्रसाद अपने जीवन से अनुभूत कथ्य नहीं लाते।

यही अन्तर है जो उन्हें और उनके गीतों को निराला और निराला के गीतों से अलग कर देता है। प्रसाद की सांस्कृतिकता प्रबुद्ध ज्ञानार्जित सांस्कृतिकता है। निराला की सांस्कृतिकता जिये जीवन की, उससे जुड़ी, उसके हित की सांस्कृतिकता है। इसीलिए प्रसाद के गीतों का इतना व्यापक क्षेत्र नहीं है, जितना व्यापक क्षेत्र निराला के गीतों का है। प्रसाद में परम्परा कथ्य और शिल्प के स्वरों पर बराबर जागती रहती है। प्रसाद की प्रगतिशीलता वैचारिक होकर व्यक्त होती है। गीतों में उसका समावेश किया जाता है। निराला की प्रगतिशीलता स्वयं गीत बन जाती है। निराला गीतों में प्रगतिशीलता भरते नहीं उपजाते हैं। प्रसाद के गीतों की गेयता साहित्यिक गेयता होती है, जो आरोपित गेयता ही कही जा सकती है। गेयता को प्रसाद गीत के साथ उपजाते नहीं; कथ्य को गीत में बाँध देते हैं। यही वह सूक्ष्म अन्तर है, जो प्रसाद और निराला के गीतों को एक-

दूसरे से दूर रखता है। शिल्प की उपलब्धि करना प्रसाद का ध्येय नहीं जान पड़ता। वह पदों के शिल्प से भी अपना काम चला लेते हैं। शिल्प के जितने रूप और प्रकार निराला में मिलते हैं, उतने रूप और प्रकार प्रसाद में नहीं मिलते। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद ने खड़ी बोली के गीतों को स्थायित्व नहीं प्रदान किया। उनके गीत एक-दूसरे स्तर के गीत हैं। उस स्तर के गीतों का भी काव्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उस योगदान की सराहना करनी पड़ेगी।

पन्त के गीत-काव्य के पद्यात्मक गीत कहे जा सकते हैं। पद्य में बँधे पंत के गीत इसीलिए सहज लगते हैं और छूकर-सहलाकर उड़-से जाते हैं, क्योंकि उनकी गेयता कथ्य से जन्मी हुई नहीं होती। तभी उनके गीतों का कथ्य उनकी गेयता से अलग करके पकड़ा जा सकता है। निराला के गीतों का कथ्य उनकी गेयता से अलग करके नहीं पकड़ा जा सकता। पन्त के गीतों में निरन्तर एक शब्दकार गाता रहता है। शब्दों को शब्दकार का स्वर मिलता रहता है।

महादेवी के गीतों का कथ्य और शिल्प ऊपर के कवियों से नितान्त भिन्न है। उनका कथ्य हो, या शिल्प मानवीय धरातल से उठकर तथाकथित आध्यात्मिक धरातल पर पहुँच गया है। वह जनसाधारण के सहज स्वाभाविक मन के गीत नहीं हैं। उनके गीतों का समस्त जीवन-दर्शन विभिन्न भाव-मुद्राएँ लेकर व्यक्त हुआ है। उनके गीतों में वेदना है, परोक्ष की सत्ता के प्रति समर्पण है। अपने मिट जाने की करुणा-भरी ललक है, पृथ्वी से लेकर आसमान तक का रंग-रूपमय स्पंदन है, और सांस्कृतिक सूक्ष्म चिन्तन की संवेदनशीलता है, और बहुत-कुछ है। उनके गीतों की गेयता सहज भी है, कथ्य के अनुरूप भी है, किन्तु उनके गीत एक सीमित दिशा की ओर गये हैं, इसलिए व्यापक मानवीय दिशाओं का संस्पर्श नहीं करते। उनके गीतों से खड़ी बोली के काव्यों की नारी-हृदय के अनेकानेक मनोचित्र मिले हैं। वह सब-के-सब अपने-आप में सबसे अलग और अनूठे दिखते हैं। पन्त के गीतों से अधिक गेयता है इनमें। ऐसा लगता है कि जैसे कथ्य स्वयं गेय हो गया है; उसे गेय बनाने के लिए कवयित्री को प्रयास नहीं करना पड़ा। शिल्प में साधक कहीं नहीं दिखता। शिल्प स्वयं प्रस्तुत होकर कथ्य को अपना लिया करता है। निश्चय ही महादेवी के गीतों की अपनी एक अनूठी उपलब्धि है, जिससे नये-नये गीतों के लिए अनेकानेक कवयित्रियों को दृष्टि और दिशा मिली है।

छायावाद के बाद अनेक वाद हिन्दी की खड़ीबोली की कविता में आये और अब भी आते चले जा रहे हैं। हरेक वाद के दौरान अनेकानेक गीत लिखे गये हैं। इस समय भी 'नवगीत' लिखे जा रहे हैं। यहाँतक पहुँचने में छायावाद के युग के सब गीत-चिह्न मिट गये हैं, और गीत ने 'नवगीत' के रूप में आदमी के स्वभाव की सहजता फिर से पा ली है; इसीलिए नवगीतों में सहज कथ्य और सहज शिल्प होता है। इनमें न आध्यात्मिकता होती है—न दार्शनिकता होती है। साहित्यिकता को पा लेना भी इनका लक्ष्य नहीं होता; उन शब्दों के प्रति भी मोह नहीं रह गया, जिन शब्दों से इनके पूर्ववर्ती गीत रचे जाते थे।

'नवगीत' अब एक अलग विधा बन गया है। पर्याप्त संख्या में नये-नये कवियों ने इनकी रचना की है। आये दिन हर छोटी-बड़ी साहित्यिक पत्रिकाओं में इन गीतों को देखा जा सकता है। ये गीत कविता और अकविता के कुछेक तत्त्व अपने कथ्य और शिल्प में समोये रहते हैं। इनकी भाषा में पद्य और गद्य के निकट की लय बहुत विद्यमान मिलती है। यह तुकान्त और अतुकान्त दोनों होते हैं। पर इनकी तुकें सर्वथा नयी होती हैं-वैसी नहीं होतीं, जैसे पहले के अन्य कवि प्रयुक्त कर चुके होते हैं। इनकी चाल में निर्धारित यतियों के बजाय कथ्य के आंशिक भाषायी टुकड़े होते हैं, जो एक-दूसरे से छोटे-बड़े होते हैं। इनकी गेयता कहीं-कहीं 'फिल्मी धुनों' के पास पहुँची हुई होती है और कहीं-कहीं 'लोकधुनों' पर आधारित होती है। ऐसा भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं इनकी गेयता पश्चिमी गेयता से आबद्ध होती है। अलावा इसके अन्य प्रान्तों की भाषाओं की गेयता भी कभी-कभी इनमें व्याप्त दिखती है। इनकी शब्दावली काव्य की प्रयुक्त पूर्ववर्ती शब्दावली नहीं होती। इनकी शब्दावली दैनिक वार्ता से उठायी शब्दावली होती है। यह स्वभाव से कभी पत्राचार तक पहुँचती है, तो कभी अखबारी माहौल के मिजाज की होती है। इनमें आत्मीय संलाप की लय भी पायी गयी है।

यह गीत सहज कविता के 'बाबुई' गीत कहे जा सकते हैं, जो विश्वविद्यालयीय रुचि और संस्कार का मजा देते रहते हैं। इन्हें जनसाधारण की दैनिक वार्ता का गीत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जनसाधारण इनके तेवर की भाषा का प्रयोग करता कभी नहीं देखा गया। इसलिए नवगीतों में भी कुछ-न-कुछ भाषायी कृत्रिमता अवश्य ही रहती है; पर वह कृत्रिमता सहजता को छूती-सी रहती है और ग्राह्य भी सहज ही हो-सी जाती है। छायावादी गीतों के बाद बच्चन के गीतों का प्रचार और प्रसार हुआ था। बच्चन ने अपने गीतों द्वारा छायावादी कथ्य और शिल्प को तोड़ा था और ऐसे गीत रचे और दिये थे, जो कविता भी थे और गीत भी थे। उनकी गेयता भी टेक पर टिकी हुई थी; लेकिन उनकी गेयता में सांस्कृतिकता की ओर प्रयाणशीलता नहीं मिलती, जो छायावादी गीतों की अपनी विशिष्टता थी। उनके गीत भाव या विचार को व्यक्त करने की दिशा में अधिक रत रहे। गेयता—उनकी गेयता—स्वयं में एक उपलब्धि के तौर पर नहीं होती थी, वरन् वह आधार बन कर प्रयुक्त होती थी। उनके भाव या विचार उस गेयता पर चलते थे। बच्चन की गेयता रेल की पटरियों की तरह बिछा दी जाती थी और उन पर उनके कृतित्व की रेलगाड़ी एक वेग से भागती-दौड़ती एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन को पार करती गन्तव्य तक पहुँची थी। बच्चन के गीतों में शिल्प का पिण्ड, गेयता का पिण्ड और कथ्य का पिण्ड एक साथ एक हो कर तैयार होता था और बच्चन उस तैयार किये हुए अपने पिण्ड को कवि-सम्मेलनों में उछालते रहते थे। सहजता बच्चन ने दी; पर उसे एक ही लय में बद्ध कर के बराबर देते रहे। उनके गीत छायावादी गीतों से आगे बढ़ कर सहज मानव के सहज स्वर के सहज गीत न बन सके। बच्चन की भाषा गीतों में रूढ़ प्रवाह के साथ चली और चलते-चलते जब नयी जीवन-अनुभूतियों से कतरा गयी तो

वह लोकधुनों के प्रवाह में गाँव को गयी और वहाँ से वहाँ का वातावरण ले आयी, पर तिसपर भी 'बाबुई' ही बनी रही।

बच्चन के लोकगीत वास्तव में पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय अभिजात व्यक्तियों के मनबहलाव के गीत हैं। इसके विपरीत वीरेन्द्र मिश्र के गीत अधिक विविधता लिये हुए देखे जाते हैं। उनके गीतों में—गीत-गीत में—पारम्परिक साम्य नहीं है। हरेक का अपना स्वर और स्वभाव होता है। हरेक की दिशा बदली हुई होती है। हरेक अपने कथ्य में दूसरे के कथ्य से बदला हुआ होता है। हरेक गीत आस्थावान व्यक्ति के जीवन की विभिन्न मानसिक स्थितियों का आत्मपरक और वस्तुपरक बोध प्रस्तुत करता है। कोई भी ऐसी दिशा नहीं है, जिसे उनके गीत न छू सके हों। वह प्रकृति को पकड़कर कैद कर लाते हैं। वह युगबोध को साकार कर देते हैं। वह राजनीति का आलोड़न भी गीत-बद्ध कर देते हैं। रूप और सौन्दर्य की चितवन्ती छवियाँ भी स्वर-बद्ध कर देते हैं। उनके गीत जीवित मानव की जीवित और विकसनशील संस्कृति की अभिजात उपलब्धियाँ बन जाते हैं। उनके गीतों का रोमान मानवीय रोमान होता है—पतित रोमान नहीं होता। वह गीत रचते हैं गेयता और कथ्य और शिल्प को सहज मानव के सहज स्वभाव से। उनके गीतों को विश्वविद्यालयीय गीत या बाबुई गीत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनमें बाबुई संस्कृति का काव्य नहीं होता, वरन् जनसाधारण के जीवन से सम्बद्ध और संपृक्त कथ्य होता है। भाषा के स्तर पर उनके गीत अभिजातवर्गीय होते हैं। ऐसा इसलिए होता है; क्योंकि खड़ीबोली का लिखित रूप मूलत: अभिजातवर्गीय कृतिकारों के द्वारा निर्मित होता चला आया था और वह रूप उन्हें विरासत में मिला है। वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सके; अत: उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इनसे पहले नरेन्द्र शर्मा और नीरज गीत लिखकर ख्याति पा चुके थे। पर उन दोनों के गीतों में तब ही ठहराव आ चुका था। नरेन्द्र तो मुख्यतया प्रेम के गीतकार रहे हैं। नीरज ने अपनी गेयता को अन्यान्य पुराने कवियों की गेयता से प्राप्त किया और जब जी में जैसा आया वैसा उसे अपनी रचनाओं में उपयोग करते चले गये। नीरज को कथ्य और शिल्प के स्तर पर, या गेयता के स्तर पर मौलिक रचनाकार नहीं कहा जा सकता। वह व्यवहार-कुशलता पर अधिक बल देकर रचनाएँ रचते रहे और गा-गा कर मशहूर होते रहे। उनके गीतों में सतहीपन आया और वह टिकाऊ इकाइयाँ न बन सके। उनके गीतों का साहित्यिक मूल्य क्या होगा, यह कोई विद्वान् ही बता सकता है। बहरहाल जैसी भी स्थिति है वह यही है कि उनके गीत उनके द्वारा खींच-खींचकर गाये जाने पर भी, विशिष्ट भाव-बोध के स्थायी गीत नहीं बन सके। वह लिपिकों के स्वभाव के लिखे गये गीत हैं। उनमें न मानवीय वेदना है—न मानवीय सहानुभूति। गहरेपन से अछूते उनके गीत हवा में ऊपर-ऊपर ही तैर जाते हैं और फिर शेष नहीं रह जाते।

रमानाथ के गीत बच्चन और नरेन्द्र शर्मा की मिश्रित परम्परा के गीत हैं। उन्होंने भी रोमान के बड़े अच्छे गीत लिखे हैं। वह भी प्रेम की अनुभूतियों की सहजता के अलावा जीवन की विविध सहजता से नहीं जुड़े, इसीलिए 'नवगीत' तक न पहुँच सके।

शम्भूनाथ सिंह भी एक जमाने में 'गीतकार' की हैसियत से आगे आये थे। वह भी गेयता को सहज बना सके थे। उनकी गेयता भी ग्राह्य हुई थी; परन्तु वह अधिक न दे सके।

ठाकुरप्रसाद सिंह ने संथाली स्वरों से गीतों की सहज वृत्ति को प्रस्तुत किया। नवगीत के तत्त्व उनके गीतों में आये; परन्तु वह भी अपने गीतों की गेयता की सहजता को और आगे नहीं ले गये। इनके अतिरिक्त भी कई कवियों ने बड़े सुन्दर-सुन्दर गीत दिये हैं; परन्तु वे मुख्य रूप से गीतकार नहीं रहे। इसलिए उनका विवरण देना औचित्यपूर्ण न होगा। यहाँ केवल मुख्य-मुख्य नियामक गीतकारों के नाम देकर उनके कृतित्व का थोड़ा-सा ही विवेचन इसलिए किया गया है, ताकि 'नवगीत' की विधा को काव्य के विकास-क्रम के सही परिपार्श्व में पकड़ा और परखा जा सके।

निश्चय ही यह संतोष की बात है कि 'नवगीत' का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत हो रहा है। नवगीतकार अपने कृतित्व से इस विधा की सार्थकता सिद्ध कर रहे हैं। अभी नवगीतों में विकास की सम्भावनाएँ साकार रूप धारण करती चल रही हैं। नये गीतकार अभी खुले मानवीय मन से जीवन की सहजता को गेय कृतियों में ढालते जा रहे हैं। कहीं भी कोई कृत्रिमता नहीं दिखती। रूढ़ि का तो स्पर्श तक कहीं नहीं मिलता। कथ्य और शिल्प सर्वथा नये-नये आयाम पाते चले जा रहे हैं। सोम ठाकुर, रमेश रंजक, नईम, रामविलास शर्मा (मध्यप्रदेश), अजित पुष्कल और तमाम कई नयी प्रतिभाएँ नवगीत को ऊपर उठाये हुए हैं। आगे उनसे महती आशाएँ हैं।

यहाँ पर 'नवगीत' को लेकर अभी कोई विस्तृत विवेचना प्रस्तुत कर सकना सम्भव नहीं है; क्योंकि अभी तो 'नवगीत' विकास की दिशा में चला है और उसका स्थायी महत्त्व तभी आँका जा सकता है, जब वह अपना पर्याप्त योगदान कर चुका होगा। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि कविता की अन्य विधाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण कृतित्व 'नवगीत' की विधा से प्राप्त हो रहा है।

आगे चलकर 'नवगीत' कहाँ तक पहुँचेगा और फिर उसका क्या रूप होगा? क्या वह सहजता को अपनाये चलकर किसी समय आम आदमी के लिए वैसा ही रूप धारण कर लेगा, जैसाकि फिल्मी गीतों का रूप दिखायी पड़ता है? क्या वह स्वर्गीय शंकर शैलेन्द्र के फिल्मी गीतों की परंपरा में विशिष्टता प्राप्त करेगा? यहाँ अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता? इतना निश्चयात्मक रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि 'नवगीत' यदि प्रगति करेगा, तो शंकर शैलेन्द्र की परम्परा में ही चलकर काव्य को श्रव्य-संगीत की गूँजों से भर देगा। और यही यदि अगति में पड़ा रह गया और कविता की अन्य विधाओं के कथ्य और शिल्प को अपनाने लगा तो उसकी दुर्गति अवश्यम्भावी है और तब वह बीटनिक के वेश में अकेली इकाई बनकर काव्य के विकसित क्रम से कटकर अलग पड़ा रहेगा।

यह न भूलना चाहिये कि 'नवगीत' गेय जीवन की गेय कविता है, और उसका साधारणीकरण जीवन की सहजता के स्तर पर ही हो सकता है। ❐

बौद्धिकता और कविता

चिन्तन की मुद्रा में लिखी इधर अत्यधिक कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तकों में छपकर सामने आयी हैं; सभी किसी-न-किसी रूप में बौद्धिक हैं। इन कविताओं के बारे में आम शिकायत यह है कि ये बहुत कम लोगों के पल्ले पड़ती हैं।

इन कविताओं के रचयिताओं ने स्वयं भी और उनके जैसे स्वभाव के आलोचकों ने भी ऐसी कविताओं के लिखे जाने का औचित्य बार-बार प्रस्तुत भी किया है। फिर भी, इस सबके बावजूद, वह औचित्य कारगर नहीं सिद्ध हुआ और लोगों की आम शिकायत अब भी ज्यों-की-त्यों बरकरार है।

इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि बौद्धिकता और कविता के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में विचार कर लिया जाय।

अपने यहाँ, यानी भारतीय काव्य-लोक में कविता कभी भी बौद्धिकता से नि:सृत नहीं हुई और न ही उसने, सजग रूप से, बौद्धिकता का पथ अपनाया। हिन्दी-काव्य के इतिहास के किसी काल-खण्ड में जो भी कविताएँ लिखी गयीं, वे सब-की-सब बौद्धिकता को नकारती रहीं। कारण यह रहा कि अपने देश में भाववादी चिन्तन की परम्परा रही और यहाँ का समस्त काव्य इसी परम्परा से मुख्यत: प्रभावित होता रहा है। यहाँ के चिन्तक देशकाल से परे का परिकल्पित चिन्तन करते रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि यहाँ की मानसिकता, जन-जीवन की समस्याओं से ऊपर उठकर, अनेकानेक दार्शनिक प्रवृत्तियों से, मानवीयता को, एक अदृश्य शक्ति से समायोजित करती रही है। आरंभिक काल से लेकर छायावाद के काल तक ऐसा ही होता रहा है। इसीलिए छायावाद के काल तक भारतीय कविता परिकल्पनात्मक अधिक रही और बौद्धिक नहीं।

सन् 1936 ई० में 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना हुई। इसके बाद से हिन्दी-कविता परिकल्पनात्मक परिवेश से बाहर लायी गयी और तब कविता और आमजनता का एक-दूसरे से सीधा-सीधा आमने-सामने का साक्षात्कार होने लगा। भारतीय काव्य की परम्पराएँ शिथिल पड़ने लगीं, और वैज्ञानिक चिन्तन से प्रभावित मानसिकता उभरने लगी। कविता में यह मानसिकता व्यक्त होने लगी। कवियों ने अदृश्य शक्ति से छुटकारा पाने का प्रयास किया। उन्होंने आदमी को आदमियों के बीच और देश और समाज में खोजा और पाया। उसकी समस्याओं का समाहार उसके जीवन से ही निकाला जाने लगा। देश और काल के भीतर ही आदमी को उसकी स्वायत्तता प्राप्त होने लगी।

लेकिन प्रगतिवादी मानसिकता इतनी व्यापक न हो सकी कि वह अपने देश के सभी कवियों की मानसिकता बन सके। इसपर भी इतना तो अवश्य हुआ कि कविता आदमी से अधिकाधिक सम्बद्ध होने लगी। किन्तु यह सम्बद्धता उत्तरोत्तर समाज-निरपेक्ष होकर व्यक्ति-सापेक्ष्य होने लगी। प्रगतिवाद के बाद के कवि, चाहे वह जिस वाद से संलग्न रहे हों, अपनी निजी इकाई को ही महत्त्वपूर्ण इकाई मानने लगे। वे अपने अहं को और अपनी काव्य-कला को सर्वोपरि महत्त्व देने लगे। इसीलिए कुछ कवियों ने कविता को प्रयोगवादी बना डाला। उनका यह प्रयास निरावैयक्तिक था। उनकी सामाजिक अवगतता भी उन्हीं की निजी मानसिकता बनती रही और वह, उसी मानसिकता को, काव्य की उपलब्धि के रूप में, प्रस्तुत करते रहे। उनकी यह मानसिकता जन-जीवन की मानसिकता का रूप न ले सकी। यह भी एक प्रकार का बौद्धिक कवि-कर्म ही था।

प्रयोगवाद के बाद हिन्दी-कविता कई नये वादों से होकर आगे चली। लेकिन, अपनी इस यात्रा के दौरान में भी, वह मात्र बौद्धिक ही होती चली गयी। चाहे उसकी बौद्धिकता कथ्य के स्तर पर रही हो, चाहे शिल्प के स्तर पर। कई तरह की स्थापनाएँ इन कवियों ने भी, इन कविताओं के बारे में, समय-समय पर प्रस्तुत कीं। ये सब स्थापनाएँ मूलत: वैयक्तिक ही रहीं। परिणामस्वरूप, अन्ततोगत्वा, कविता कविता न रहकर मात्र अकविता हो गयी। छन्द तोड़े गये, लेकिन लय और प्रवाह के उतार-चढ़ाव साधे गये। ताकि मानसिकता अपने आवेग के साथ मानवीयता को उजागर कर सके। भाषा को रहस्यवादिता से निकालकर मानवीय बोध की संप्रेषणीयता प्रदान करने का जो सशक्त अभ्यास आरम्भ किया गया था वह अभ्यास भी, बाद के कवियों ने, नहीं अपनाया और वे भाषा के साथ सभी तरह के बलात्कार करते रहे। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि भाषा को ही निरर्थक घोषित कर दिया गया। यह भी एक प्रकार की अराजक बौद्धिकता ही थी।

निस्संदेह कविता में बौद्धिकता का प्रवेश भारतीय काव्य-परंपरा व उसकी शास्त्रीयता के प्रतिरोध में हुआ था। यह शुभ हुआ था। परन्तु यह बौद्धिकता, सही वैज्ञानिक समाजवादी चिन्तन के अभाव में, विपथगा हो गयी, और इससे, उत्कर्ष के बजाय, कविता का अपकर्ष हुआ। यह बौद्धिकता कविता को पागुर कर गयी, और स्वयं दिशा-दृष्टि-हीन होकर, दिग्भ्रमित हो कर, घूमती रही—और किसी भी आदमी को प्रिय न हो सकी। इस बौद्धिकता ने, इस गहराई राजनीति के युग में, कवि और कविता दोनों को निस्संग, निरीह और अजनबी बना दिया। ऐसा करने में 'फ्री-वर्ल्ड' की विचारधारा ने भी अत्यधिक प्रभाव डाला।

अब अपना देश समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। वह धर्म-निरपेक्ष हो गया है। ऐसी दशा में अब पहले वाली बौद्धिकता और भी बेकार हो गयी है। वह बौद्धिकता जनता के जीवन से कदापि नहीं जुड़ सकती। उसे जनता से जोड़ने के सभी प्रयास विफल होंगे। क्योंकि वैयक्तिक बौद्धिकता सार्वजनिक बौद्धिकता में परिणत नहीं हो सकती।

और जैसे ही वह अपने स्थान से हटकर सार्वजनिक परिधि में प्रवेश करेगी, उसे अपने बनाये पथ से अलग होना पड़ेगा और ऐसे मानवीय पथ पर चलना पड़ेगा, जिसपर चलकर दूसरे व्यक्ति भी मानवीय महत्ता और गरिमा प्राप्त करना चाहते हैं।

ऐसे उचित समय में अनुचित बौद्धिकता का विश्लेषण करना और उससे छुटकारा पाना आवश्यक हो गया है, ताकि सचमुच में हिन्दी की कविता कवि-विशेष की कविता होते हुए भी दूसरे व्यक्ति की मानसिकता की कविता हो सके।

निस्संग, विशिष्ट, वैयक्तिक बौद्धिकता सामाजिक परिवेश की या तो अवहेलना कर जाती है या उसे उपेक्षित कर उसकी विसंगतियों को लेकर उन्हीं को अहंवादी ढंग से निरूपित करती रहती है और ऐसे शिल्प से संरचना करती रहती है, जो परिवेश से सम्बद्ध और उपजा हुआ नहीं होता। तभी वह सम्प्रेषणीय होने से वंचित रह जाती है। बौद्धिकता भी तभी सम्प्रेषणीय होती है, जब वह जन-जीवन से, उसके परिवेश से, उसके आचार-विचार से, और उसके क्रिया-कलाप से और उसके मानवीय गुणों से सम्बद्ध होती है।

संप्रेषणीयता को प्राप्त करना होता है। संप्रेषणीयता प्राप्त करने के लिए कवि को अपनी बौद्धिकता से बाहर निकलना पड़ता है। बाहर निकलकर ही कवि अपनी बौद्धिकता को दूसरों की मानसिकता से माँजता और परखता है और इस प्रकार अपनी बौद्धिकता के स्वरूप को सार्वजनिक स्वरूप देता है और उसे सबके लिए सम्प्रेषणीय बनाता है।

संप्रेषणीयता कोई अमूर्त गुण नहीं होती। बौद्धिकता, यानी वैयक्तिक बौद्धिकता, मूर्तन से अमूर्तन की ओर जाया करती है और इस प्रयाण में मानवीय सम्बन्ध-सूत्रों को अवांछनीय मानते हुए केवल आदिम प्रवृत्तियों को पकड़ने लगती है। तभी ऐसी बौद्धिकता से विरचित कविताएँ किसी दूसरे को स्वीकार नहीं होतीं। आदमी जिस परिवेश में रहता है, जिन लोगों के साथ वह जीता, जागता, और संघर्ष करता है, और जिस तर्ज और तेवर से आगे बढ़ता है और विघटित हो रहे मानवीय मूल्यों की परिधि से उबरकर योजनाबद्ध रूप से, भविष्य की ओर बढ़ते हुए महान् मानवीय आदर्शों को आत्मसात् करने के लिए अग्रसर होता है, उनसब के विवरण से ही उनकी सही-सटीक अवगतता प्राप्त करता है। वह बौद्धिकता जो समाजवादी दार्शनिक दृष्टि से अपने को लैस नहीं करती, वह सही और सटीक अवगतता भी प्राप्त नहीं कर पाती। इसलिए अब वही बौद्धिकता संप्रेषणीय बौद्धिकता हो सकती है जो सम्बद्ध और सम्पृक्त बौद्धिकता होगी।

कविता कोई फार्मूला (सूत्र) नहीं है। कविता कोई आकाश में उछाल नहीं है। कविता कोई अतल में पहुँचने की कोशिश नहीं है। कविता में मानवीय अवगतता मानसिकता बनकर कृतित्व का रूप पाती है। उसमें जो बौद्धिकता रहती है, वह उसके कथ्य और शिल्प में अंर्तग्रथित रहती है। वह व्यक्त हो कर भी अव्यक्त रहती है। वह नहीं, कविता ही बोलती है।

जब बौद्धिकता मानसिकता का रूप धारणकर लेती है, तभी वह सपाट बयानी नहीं करती; तभी वह जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करती है; तभी वह सम्बद्धता से प्राप्त प्रत्येक सम्बद्ध-सूत्र को बिम्बित करती है और ऐसी सम्बद्धता से सार्थक आत्मपरकता उपलब्ध करती है और उसी को कृतित्व का सुगठित कलात्मक रूप देती है।

यह कार्य आज का कौन कवि किस तरह सम्पन्न करे, यह उसकी क्षमता पर निर्भर करता है, इसके लिए सतत परिश्रम अनिवार्य है। तुलसी का एक बहुत प्रसिद्ध दोहा है–

आवत ही हरसै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसे मेह॥

यह लोकप्रिय दोहा आजतक जीवित है क्यों? इसलिए कि तुलसी ने जो बात कही है संदर्भ के साथ कही है। इस संदर्भ में किसी का किसी के यहाँ जाना और उसके वहाँ जाने से गृही की आँखों में खुशी के न प्रकट होने की बात कही गई है। इस बात को अर्थवन्त और सजीव बनाने के लिए तुलसी ने यह और कह दिया कि ऐसे के यहाँ न जाना चाहिए चाहे वहाँ मेह सोना बरसे। मेह पानी बरसते हैं, सोना नहीं बरसते फिर भी तुलसी ने मेह से सोना बरसने की संभावना का वर्णन किया और असंभव को संभव किया। उन्होंने यह इसीलिए किया, ताकि आत्मसम्मान की गरिमा सोने से भी अधिक मानी जाय। इससे कही गयी बात अत्यधिक संप्रेषणीय हो गयी। सभी ने इस लोकप्रिय सत्य को हृदयंगम किया। और तुलसी की बुद्धि ने तो केवल एक सीधा-सादा सत्य पकड़ा था। उसके बाद उनकी बौद्धिकता का काम समाप्त हो गया। फिर तुलसी की मानवीय मानसिकता ने प्रभावशाली ढंग से उस बौद्धिक सत्य को तथ्यात्मकता देकर कलात्मक और संप्रेषणीय बना दिया। इसी कवि-कर्म को कला कहते हैं। कला में ही वस्तुपरकता आत्मपरकता से निरूपित होती है और कृति के रूप में प्रकट होती है।

जान-बूझकर यहाँ इस सदियों पुराने दोहे का उल्लेख किया गया है, ताकि आज के नये लोगों का यह भ्रम दूर हो जाए कि तब के युग के कवि बौद्धिकता से प्राप्त सत्य को सँवारकर संप्रेषणीय बना सकने में असमर्थ थे।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' बौद्धिकता से भरपूर सशक्त और संप्रेषणीय कलात्मक कविता है। इसमें निराला की दार्शनिक वृत्ति युगीन यथार्थवाद के सत्य को पकड़कर अनेकानेक बिम्बों के माध्यम से इस सक्षमता से साकार कर देती है कि यह कविता एक तरफ सपाट बयानी से बच निकलती है और दूसरी तरफ मानवीय मानसिकता को व्यापक गहराई के साथ ग्रहणीय बना देती है। इसीलिए यह कविता अत्यधिक लोकप्रिय हुई। मगर आज के तथाकथित बौद्धिक युवाकवि ऐसी मानवीय मानसिकता को निरूपित करने वाली सत्य-भेदी बौद्धिकता के पास तक नहीं फटकते। नतीजा यह होता है कि ये कवि जो कुछ लिखते हैं, वह कंकाली कृतित्व मात्र होता है, जो न तो मार्मिक सत्य को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ व्यक्त करता है, न बिम्ब-विधान से सजीव होकर संप्रेषणीय

बनता है और न ही लोकप्रियता प्राप्त करता है। इनकी अधिकांश रचनाएँ यों ही जेब से जैसे निकालकर बाहर फेंक दी गयी होती हैं; जो एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी समूह में पहुँचकर अपनी-अपनी अस्मिता खो देती हैं और वह मानवीय मानसिकता बनाने का काम तो कतई नहीं कर पाती हैं। आये दिन के जैसे नेताओं के भाषण पढ़-पढ़कर भी जनता की मानसिकता जहाँ-की तहाँ बनी रह जाती है, वैसे ही इन कविताओं को पढ़ने के बाद भी आम पाठक की मानसिकता जहाँ-की-तहाँ बनी रह जाती हैं। बात जैसे आयी गयी हो जाती है। प्रभाव कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

मुक्तिबोध का उदाहरण लीजिए। वह भी बौद्धिक विशिष्टता के कवि हैं। वह मार्क्सवादी दार्शनिक दृष्टि से गहनतम रूप से जुड़े हुए हैं। उन्होंने युग और यथार्थ को भीतर और बाहर जिया है। उन्होंने जो कुछ भी काव्य के रूप में प्राप्त किया है, उसे अन्तर्द्वन्द्वीय संघर्ष करके प्राप्त किया है। इसलिए वह अन्य अपने युगीन कवियों से नितान्त भिन्न हो गये हैं और इसीलिए उनकी उपलब्ध मानवीय मानसिकता अब अन्य कवियों से बिल्कुल अलग हो गयी है और साथ-ही-साथ हिन्दी की सहज मानवीय लोक-मानसिकता से भी दूर की हो गयी है। उनकी यह विशिष्टता ही उनके काव्य को जनसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं बना सकी। उनके काव्य की बोधगम्यता शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति की बोधगम्यता का रूप ले सकी है। उनका काव्य बौद्धिक लोगों से इतर के लोगों के लिए कठिन हो गया है। यह एक अजीब बात है कि मार्क्सवादी होते हुए भी वह मन-मन्थन को ही अधिक व्यक्त करने में संलग्न रहे। वह सहज साधारण सत्य को उसके सहज साधारण रूप में आमतौर से ग्रहण नहीं करते। उसे भी ग्रहण करने में उन्हें जैसे आँधी, तूफान और अंधकार से क्षण-प्रति-क्षण लड़ना पड़ता है। बिना इस लड़ाई के भी उस सत्य को ग्रहण किया जा सकता है, मगर यह उनकी रीति नहीं है। यह कहना होगा कि उनके काव्य की बौद्धिक यंत्रणा की संप्रेषणीयता इसीलिए गूढ़ हो गयी है क्योंकि वह उनकी वैयक्तिकता से बाहर निकलकर आमआदमी की वैयक्तिकता से जुड़ नहीं सकी। ऐसा लगता है कि जैसे कि वह कविता को पकड़ने में खुद टूटते हैं और टूटते-टूटते जब कविता को पकड़ पाते हैं, तब भी मानसिक तनाव से मुक्ति नहीं पाते हैं, उनकी अधिकांश कविताओं की इकाइयाँ चीखती-चिल्लाती इकाइयाँ हैं। उनकी कला कोलाहल करती रहती है। उनकी कविताओं का कलेवर अभंग मुद्राओं का कलेवर नहीं होता। मार्क्सवादी दर्शन से द्वन्द्व की स्थिति में भी शांति की अवतारणा सम्भव की जाती है। लेकिन मुक्तिबोध द्वन्द्व की स्थिति से शांति की श्रीसम्पन्न मूर्तियाँ प्रस्तुत नहीं करते।

निराला ने कविता को जहाँतक पहुँचाया था, वहाँ से कविता को आगे बढ़ाने का काम मुक्तिबोध ने किया जरूर, मगर यह अग्रगमन यथार्थ की विभिन्न परिस्थितियों को पकड़ने से अधिक सम्बद्ध रहा, और इस पकड़ की प्रक्रिया में वह आम मानवीय मानसिकता से हटता हुआ गूढ़ और जटिल होते-होते फैण्टेसी में रूपायित होकर वहीं-का-वहीं समर्पित हो गया। निराला के 'नये पत्ते' में आयी और व्यक्त हुई आम आदमी

की मानसिकता सहज साधारण यथार्थ से बनी मानसिकता थी और सहज साधारण बोलचाल के तर्ज और तेवर में प्रकट हुई थी, इसीलिए 'नये पत्ते' की कविताओं का विशेष महत्त्व और योगदान रहा है और अब भी है। निराला की अपनी गूढ़ सांस्कृतिक चेतना 'नये पत्ते' तक पहुँचते-पहुँचते जनतांत्रिक चेतना का स्वरूप ले चुकी थी। 'नये पत्ते' की कविताएँ प्रगतिशील जनतांत्रिक कविताएँ हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जनतांत्रिक होकर भी ये कविताएँ कलात्मक बनी रहीं। मुक्तिबोध ने कविता की वस्तु और उसकी कथनी को द्वन्द्वात्मक संघर्षयुक्त जीवन से प्राप्त तो किया, लेकिन उन्हें शिल्पायित स्वरूप देने में वे जनतांत्रिक तर्ज और तेवर को न अपनाये रह सके। इस वजह से उनकी कविताएँ बुद्धिवादी हो गयीं। निश्चय ही उनकी चेतना ने जनतांत्रिक काव्य-चेतना का पथ प्रशस्त नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील कविता की वह भूमिका न हो सकी, जो निराला की जनतांत्रिक चेतना के पथ-प्रदर्शन के बाद होनी चाहिए थी। मुक्तिबोध के बाद अधिकांश युवा-कवि उसी बौद्धिकता की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बना बैठे जिस बौद्धिकता की अभिव्यक्ति द्वन्द्वात्मक चेतना की जटिल और तनावपूर्ण अभिव्यक्ति थी। मुक्तिबोध की कलात्मकता वास्तव में जनतांत्रिक कलात्मकता नहीं है। जनतांत्रिक कलात्मकता गूढ़ और गँठीली बौद्धिकता के क्षेत्र के बाहर ही पनपती और प्रसारित होती है। इस बात को समझना होगा और तभी प्रगतिशील कविता को, समझ-बूझ के साथ, जनतांत्रिक चेतना की ओर ले जाना होगा। केवल यह कह देना कि मुक्तिबोध की बौद्धिकता प्रगतिशील आदमी की बौद्धिकता थी, जिसे मुक्तिबोध ने उभारा, काफी न होगा। नई बौद्धिकता की स्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-कविता के क्षेत्र में नई प्रगतिशीलता का आंदोलन होने लगा। दरअसल में प्रगतिशीलता इस 'नई प्रगतिशीलता' की वजह से अपना जनतांत्रिक सही काव्यात्मक स्वरूप न पा सकी। इससे कविता के जनतंत्रीकरण में बाधा पहुँची। इस बाधा का परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील मानवीय चेतना, कवियों की अपनी-अपनी निजी, विशिष्ट बोध की, वैयक्तिक चेतना-मात्र बनती चली गयी और प्रगतिशील लेखक संघ सभी का एकजुट संघ न बना रह सका और उसमें बिखराव आ गया। ऐसी परिणति से अब सबक लेना होगा। 'नई प्रगतिशीलता' के समर्थन में और भी कई युवा-कवि आगे आये जो काव्य के जनतंत्रीकरण के लक्ष्य में लगकर लिख रहे हैं।

❐

आज के सन्दर्भ में कविता की अर्थवत्ता

आज के संदर्भ में आमधारणा यह हो गई है कि कविता, कविता नहीं रह गई, वह आम आदमी को संप्रेषित नहीं करती, न वह आनंद देती है—न मधुर आस्वाद देती है और न ही कोई सत्य का उद्‌घाटन करती है। लोग कहते हैं कि आज की कविता जीवन से कटकर अलग हो गई है, वह बौद्धिकों का मानसिक खिलवाड़ बन गई है। न उसमें कर्णप्रिय सुखद शब्द होते हैं—न वह छंदबद्ध होती है, वह तो बौद्धिक कृतिकार की निजी मानसिकता की कृति हो गई है।

यह आरोप है, जो कविता के विरुद्ध सभी पढ़े-लिखे लोग भी लगाते हैं। वह आरोप उस समय की कुछ दूसरे शब्दों में तब लोगों ने लगाया था, जब छायावाद की कविताएँ छपने लगी थीं। मुझे याद है कि हिन्दी जगत् में छायावाद की कविताओं के विरुद्ध वैमनस्य का-सा वातावरण पत्र-पत्रिकाओं में और गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में बन गया था। छायावादी कविताओं में तत्सम शब्दों का और छंदों का प्रयोग होता था। कई-कई छन्दों को मिलाकर नये-नये छन्द भी बनाये जाते थे। मुक्तछन्द भी लिखे गये। उनके खिलाफ भी आवाजें कसी गईं। उनमें व्यक्त सूक्ष्म अनुभूतियों को अस्वीकार किया गया। उनके नवीन भावबोध के सूक्ष्म-स्पंदनशील शिल्प को अस्वीकार किया गया। धीरे-धीरे जब छायावाद ने युवा मानसिकता पर विजय पा ली, तब विरोधियों को पस्त हो जाना पड़ा और फिर हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावादी कविता को गौरवपूर्ण स्थान दिया गया। इससे यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि जो विरोध कविता में व्यक्त शब्दों के कारण होता है, वह विरोध अस्थायी होता है। आज की कविता में तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर होता है तो फिर क्यों नहीं लोग नई कविता की तारीफ करते। वास्तव में, विरोध चाहे वह प्रयुक्त शब्दों को लेकर किया जाय या छन्दों के विघटन को लेकर किया जाय या काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से कविता को तिरस्कृत किया जाय एक जैसा ही विरोध होता है, जो बदली हुई युगीन मानसिकता को आत्मसात् नहीं कर पाता। इसलिए कविता के विपक्ष में अनायास ही लोग चिल्ला पड़ते हैं कि कविता अब तो कविता नहीं रही। नि:संदेह यह एक भयावह परिस्थिति, कविता के विकास के लिये और जनमानस की मानसिकता के नए सिरे से नए संदर्भ के निरूपण के लिए है।

इस विरोध के मूलकारण कई हैं। एक कारण तो यह है कि लोग कविता को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से परखते हैं। वे जब कविता को उन सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं पाते, तो वे उसे कविता मानने से ही इन्कार कर देते हैं। यही कह दूँ कि काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, चाहे वह अपने देश के हों या विदेश के, शाश्वत सिद्धान्त नहीं होते। वे अपने

युगीन देश-काल की मानसिकता से खोज-खाजकर गढ़े गए थे। न वह देश-काल रहा, न वह लोग रहे, न वह मानसिकता रही, न वह पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा रही और न ही वह भाववादी विचारकों से पोषित और पालित समाज रहा। इसलिये काव्यशास्त्रीय विरोध से आज की कविता वालों को घबड़ाना नहीं चाहिये। न माघ की कविता आज की कविता हो सकती है,न कालिदास की कविता और न भारवि की; न बिहारी, न पद्माकर, न सूरदास न तुलसीदास और न केशव आदि ही आज के कवि के प्रेरणास्रोत हो सकते हैं और न ही उनकी वाणी के स्वरूप आज के आदमी की मानसिकता को व्यक्त कर सकते हैं।

अपने यहाँ कविता सदैव रसिकप्रिया होकर रही है। उसे कलाकामिनी मानकर कविगण आलिंगित करते रहे हैं। वह नाज-नखरे दिखाने में प्रवीण रही है।

रसिक शिरोमणि राजे-महराजे और उनके आश्रित कविगण उसकी नाजबरदारी करते रहे हैं और कविता अपनी क्रीड़ा से और अपने कौतुक और कौतूहल से उनको खुश रखती रही है और आनन्द–विभोर करती हुई मानसिक तुष्टि देती रही है। तभी से अबतक भी यही धारणा बनी हुई जी रही है कि कविता को तो आनन्द देना चाहिये, वह आस्वाद दे। यदि आनन्द, नहीं देती, उससे कुछ आस्वाद नहीं मिलता तो वह कविता नहीं है। कविता की यह भूमिका काल-चक्र ने उत्तरोत्तर इतिहास को चोट पहुँचा-पहुँचा कर अरसा हुआ समाप्त कर दी है। लेकिन आदमी की मानसिकता दीर्घकाल में ही बदलती है। इसलिये कविता के बारे में बनी हुई इस धारणा के अवशेष लोग अब भी जी रहे हैं। यह सर्वथा अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है कि कविता को निजी आनन्द व आस्वाद की कृति समझा जाय। कविता का सम्बन्ध आदमी की चेतना से है। चेतना जीवन की समग्रता में भीतर पैठती चली जाती है और समग्र जीवन से अवगत हो कर सम्वेदनशील हो जाती है और जड़-चेतन और देश-काल से सम्बद्ध हो जाती है, तब चेतना किसी एक व्यक्ति की निजी चेतना मात्र नहीं रह जाती। उस चेतना में दूसरों की चेतना के आयाम भी आ जाते हैं और जब वह चेतना, किसी कवि की चेतना हो जाती है तो कृति का रूप लेकर एक नई सृष्टि बन जाती है। वह कवि की भी उतनी ही होती है, जितनी दूसरों की। कविता को यह दायित्व देश-काल और इतिहास ने दिया है जिसे वह अब पूरा करने में लगी हुई है। इसलिए कविता के सम्बन्ध में आनन्द व आस्वाद की बात करना असंगत और तर्कहीन है।

जहाँतक कविता की संप्रेषणीयता का प्रश्न है, उसपर विचार करना आवश्यक है। आज की कविता एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक, पूरी-की-पूरी–असम्प्रेषणीय नहीं कही जा सकती। आज की सभी कविताएँ असंप्रेषणीय नहीं हैं। उनमें से केवल वही असंप्रेषणीय हैं, जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य के हिमायती, अहंवादी कवियों ने अपनी निजता की अभिव्यक्ति के लिये लिखी हैं। ये कविताएँ इसीलिये असंप्रेषणीय हो जाती है कि वे मानव-जीवन के तमाम प्राकृतिक, सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों से कोई सरोकार नहीं रखतीं, केवल अपने कवि की वैयक्तिक मानसिकता की ही ग्रन्थि होकर रह जाती

हैं। दूसरे लोग जब ऐसी कृतियों को पढ़ते हैं तो वे उनमें जीवन के किसी भी सम्बन्ध की झाँकी नहीं पाते और न ही वे उनसे प्रभावित होते हैं। कविता में अगर नदी, पेड़, पहाड़, वन, धूप, छाँह, सूरज, चाँद, सितारे और ऋतु-परिवर्तन के दृश्य न हों और न उसमें लौकिक वस्तुओं के रंग-रूपों का बिम्बन हो तो बेचारा पाठक कैसे अपने प्रांत, प्रदेश, और देश को देख सकता है और कैसे उसको प्यार कर सकता है, जबकि इनके बिना वह देश की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी तरह गाँव-नगर, हाट-बाजार,, इमारतें आदमी के बनाये हुए छविगृह और पारस्परिक सहयोग से चल रहे जीवित समाज के चित्र अगर कविता में नहीं आते तो पाठक कविता में न अपने को पाता है, न दूसरों को पाता है, न समाज को पाता है, न देश को पाता है। तभी वह ऐसी कविता से निराश हो जाता है और उसे कविता नहीं मानता। आदमी अकेले नहीं जीता, वह दूसरे आदमियों से सम्बन्ध कायम करके जीवन जीता दु:ख-सुख भोगता और काम-काज करता है। कविता ऐसे सम्बन्धों को नकारकर किसी एक की निजता से उगकर भी बाहर आकर नहीं जी सकती और न ही स्वीकार की जा सकती है। रहस्यवादी कवियों ने भी जो परमानन्द या परमसत्य के सामने पहुँचने की तथाकथित आत्मानुभूति प्राप्त की थी, उस अनुभूति का वर्णन करते समय लौकिक पक्ष की नितांत अवहेलना नहीं की थी, अपितु उसी के माध्यम से तथाकथित अलौकिक अनुभव को संप्रेषित किया था। गोपियों का कृष्ण के प्रति जो प्रेम व्यक्त हुआ है, वह तभी व्यक्त हो सका है जब कृष्ण गोपियों के बीच ग्वाले बनकर उनके साथ नाचते-गाते दिखाये गये हैं। मीराँ ने गिरधर गोपाल को आत्मसमर्पण किया, लेकिन उसका आत्मसमर्पण तभी सम्भव हो सका, जब मीराँ ने कृष्ण को आदमी की देह में साकार कर लिया। यही कारण है कि निर्गुनिये कवि ऐसा लोकप्रिय मानवीय काव्य नहीं लिख सके, जैसा सगुनिये कवि लिख सके। निर्गुण काव्य में विचार अथवा सत्य व्यक्त हो सकता है, लेकिन वह अशरीरी और असम्बद्ध होने की वजह से सबके लिए ग्राह्य और अर्थवन्त नहीं हो पाता। सम्प्रेषणीयता का सवाल केवल शिल्प और भाषा का सवाल नहीं है। सम्प्रेषणीयता तो शत-प्रतिशत आदि से लेकर अन्त तक मानवीय और प्राकृतिक सम्बन्धों की वजह से ही बनती है और जहाँ इसका अभाव होता है, वहीं सम्प्रेषणीयता लुप्त हो जाती है। यह हो सकता है कि यह सम्प्रेषणीयता अच्छी भाषा के संयोग से अधिक ग्रहणीय और प्रिय हो। यह भी हो सकता है कि यह सम्प्रेषणीयता शिल्प से सँवरकर अधिक सम्वेदनशील हो जाय, लेकिन यह नहीं हो सकता कि सम्बन्धों के बिना बनी कविता दूसरों के लिये सम्प्रेषणीय हो जाय।

इसलिये आज के संदर्भ में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगा कि कविगण इसे बहुत भली-भाँति समझ लें कि किसी की कविता किसी को तभी अर्थवन्त लगेगी, जब वह मानवीय और प्राकृतिक सम्बन्धों की, इतिहास-बोध के साथ युगजीवी संदर्भों से युक्त होकर, कविता बनेगी। वरना तो वह अफीमची की मानसिक ग्राफ ही होगी या किसी कनखजूरे के चलने से बनी कोई अजनबी कृति होगी अथवा किसी सिरफिरे की ऊलजलूल रचना होगी।

कविता संप्रेषणीय होते हुए भी अगर सत्य का कोई अंश व्यक्त नहीं करती तो वह कमजोर रह जाती है। कविता को आदमी के जीवन में पेवस्त होने के लिये आदमी के सत्य से संयोजित होना पड़ेगा, वरना वह भी क्षणजीवी होगी और भटके मेघ की तरह आकर बिना बरसे हुए ओझल हो जायगी। सत्य की पहचान करना भी कवि के लिये बहुत आवश्यक है। हरएक अपनी तरह का सत्य लिये दुनिया में जीता है। सबके 'घरू' सत्य अलग-अलग होते हैं। नगर के सत्य अलग होते हैं। सामाजिक जीवन को जीनेवालों के वर्गीय सत्य अलग-अलग होते हैं, देश की राजनीति के विभिन्न दलों के अलग-अलग सत्य होते हैं। प्राचीनकाल से चले आए धर्मों के सत्य अलग-अलग होते हैं। मत-मतान्तरों के सत्य अलग-अलग होते हैं। परिवार-परिवार के सदस्यों के मानसिक सत्य अलग होते हैं। ऐसी स्थिति है इस सत्य की। तब बेचारा कवि किस सत्य को सबका सत्य समझकर या वैज्ञानिक सत्य समझ कर कविता में रूपायित करे? उसकी जान संकट में पड़ी रहती है और वह सही दार्शनिक जीवन-दृष्टि के अभाव में इन वैयक्तिक और तथाकथित सामाजिक और धार्मिक सत्यों के चक्कर काटता रहता है और कभी इस सत्य का, कभी उस सत्य का पल्ला पकड़ता है और तब जो कृति देता है, वह कृति केवल अनुभूतिपरक होकर रह जाती है। जैसे कोई रस्सी को साँप समझ ले और कविता लिख डाले।

तो आदमी की कविता तभी अर्थवंत हो सकती है, जब वह जीवन की अर्थवत्ता पाए और वह संप्रेषणीय होकर आदमी की मानसिकता में प्रविष्ट करे और आदमी को आदमी से जोड़े, प्रकृति और संसार से आबद्ध करे।

इसलिए आज के संदर्भ में कविता की अर्थवत्ता को कहीं बाहर खोजने की जरूरत नहीं है, बल्कि उसे अर्थवन्त बनाने के लिये कवि को सबसे पहले आदमियों से सम्बद्ध होना पड़ेगा, प्रकृति से प्रभावित होना पड़ेगा। संसार और उसकी गतिविधियों से, उसके घटना-चक्र से अभिभूत होना पड़ेगा। तब अपनी अर्जित की हुई वैयक्तिकता को तदनुरूप संदर्भशील-संवेदनशीलता प्रदान करनी होगी और उस संवेदनशीलता से तदनुरूप भाषा के माध्यम से कविता के रूप में सत्य के स्थापन के लिये प्रकट करना होगा।

❐

आम आदमी और कविता

आम आदमी कोई एक आदमी नहीं है। आम आदमी जातिवाचक आदमी है। इस जातिवाचक आदमी को आज के तमाम आदमियों के बीच से खोज निकाला गया है। यह खोज निकाला गया आदमी उन्हीं आदमियों का साधारणीकृत प्रतिबिम्ब होता है, जिसमें उन्हीं का तदनुरूप निरूपण होता है। तात्पर्य यह कि ऐसे आम आदमी को जानकर दूसरे आदमियों को जाना जा सकता है। यही नहीं, दूसरों को जानकर इसे ठीक-ठीक जाना जा सकता है। व्यक्तिवाचक आदमियों से जातिवाचक आदमी तक पहुँचने की यह मानवीय यात्रा अलग-अलग अवस्थित इकाइयों से एक नवनिर्मित अथवा एक प्रतिनिधि इकाई तक पहुँचने की यात्रा है। इस प्रतिनिधि इकाई में ही दूसरी इकाइयों की प्रतिच्छवि मिलती है, इसलिए आम आदमी को एक सामूहिक इकाई कहा जा सकता है। यह सामूहिक इकाई अमूर्त तो है ही परन्तु इसका यह अमूर्तत्व इतना सम्बद्ध बिम्बकीय होता है कि इससे दूसरी सम्बद्ध इकाइयों का बोध मूर्तिमान हो जाता है।

इसीलिए अब आज के युग में कविता भी आम आदमी की कविता हो सकती है। पहले जमाने में और बीच के जमाने में भी अक्सर कविता एक व्यक्ति को लेकर ही लिखी जाती थी। वह व्यक्ति कोई खास व्यक्ति होता था। या तो वह बड़ा पराक्रमी होता था या वह महान् त्यागी, तपस्वी, और परार्थी होता था। यदि वह आसुरी वृत्ति का हुआ तो उसका उत्पाती व्यक्तित्व चित्रित किया जाता था। ऐसे ही व्यक्तियों को आधार बनाकर देश-विदेश में महाकाव्यों की रचना की जाती रही है। इन पूर्ववर्ती युगों की कृतियों में आम आदमी देखने को नहीं मिलता। कारण यह था कि तब की परिस्थितियों का इतिहास आम आदमी का इतिहास नहीं होता था। वह इतिहास व्यक्तिवाचक आदमी का अपना इतिहास होता था। सब-का-सब घटना-चक्र इसी एक होनहार आदमी के जीवन के उत्थान-पतन का वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करता था।

जैसे-जैसे देश-विदेश के ऊपरी ढाँचे (Super Structure) में ऐतिहासिक विकास-क्रम के परिवर्तन होते चले गये और वह व्यक्तिवाचक आदमी के जीवनमात्र का ऊपरी ढाँचा न रह गया, वरन् दूसरे जातिवाचक आदमियों के जीवन का भी ऊपरी ढाँचा होने लग गया। वैसे-वैसे इन दूसरे आदमियों का अस्तित्व प्रभावकारी प्रतीत होने लगा और फिर तो इन्हीं-इन्हीं की गतिविधियों से ऊपरी ढाँचा आमूलत: परिवर्तित होने लगा। और यहाँ तक आते-आते इतिहास-बोध भी आम आदमी का इतिहास-बोध बन गया।

फलत: ऊपरी ढाँचे का नियामक और नियंता बनकर आज के युग में बहुसंख्यक आमआदमी अत्यंत महत्त्वपूर्ण सक्रिय भूमिका अदा करने लग गया है। अब वह देश में स्थापित हो गया है। उसकी अपनी सामूहिक संहति बन गयी है। उसकी अपनी मानवीय पहचान बन गयी है। वह अपना इतिहास गढ़ने लग गया है। उसका अपना विचार-दर्शन उसके सामूहिक जीवन को संचालित करने लग गया है। उसकी अपनी मानवीय स्वाधीनता की परिकल्पना साकार हो गयी है। अब वह एक ऐसे अर्थतंत्र और राजतंत्र की अवतारणा के लिए संघर्षशील है, जिसमें समानता के सिद्धान्त का पूर्णतया पालन किया जा सके और सबको सामाजिक न्याय सुलभ हो सके। अब कोई किसी का शोषण न करे। उन्नति के पथ सबके लिए प्रशस्त हों, एक ऐसी सर्वहारा मानवीय सभ्यता और संस्कृति विकसित हो जो सत्यनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ, और सर्वकल्याणकारी हो।

यही आम आदमी—सामूहिक संहति का यही जातिवाचक आदमी, सर्वहारा संघर्ष का यही नियामक और नियंता आदमी—महान् मानवीय मूल्यों का संस्थापक और व्यवस्थापक यही नया सत्यनिष्ठ समानधर्मी आदमी अब आज के साहित्य का केन्द्र-बिन्दु बन गया है। इसी की मनोभूमि साहित्य का जीवन-चरित्र बन गयी है। कविता में भी यही आम आदमी व्याप्त हो गया है। इसीलिए अब आज की कविता आम आदमी की कविता है, न कि विशिष्ट अनुभूतियों के अहंवादी व्यक्ति की निजी कविता है।

पहले का अहंपोषी विशिष्ट कवि मात्र अपनी चेतन-अवचेतन संवेदनाओं का कवि होता था। आज का कवि मानवीय गुणों का संपोषक, विशिष्ट सामाजिक सम्पृक्तताओं का सबसे सम्बद्ध अपनी और दूसरों की चेतन संवेदनाओं का कवि होता है। आज के कवि का व्यक्तित्व सर्वहारा के व्यक्तित्व में व्याप्त होकर व्यापक बोध का व्यक्तित्व बन जाता है और तभी ऐसे कवि की कविता उतनी ही उसकी होती है जितनी दूसरों की। ऐसा कवि अपनी मौलिक प्रतिभा को दूसरों की मौलिक प्रतिभा बना देता है, अपनी भाषा बना देता है। ऐसे कवि की जन्मजात प्रतिभा सामाजिक सम्पृक्तता प्राप्त करती है और सत्य-निष्ठ होकर दूसरों के लिए सम्प्रेषणीय और प्रेरक हो जाती है।

इसीलिए आमआदमी और कविता का गहरा सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध विकासशील है और सर्वहारा सभ्यता और संस्कृति के निर्माण का आधार है।

इसपर भी साहित्य के क्षेत्र में आज कुछेक विचारकों ने यह भ्रम फैलाया है कि आमआदमी होता ही नहीं और न ही उसका साहित्य अथवा कविता होती है। इसके समर्थन में साहित्यकार अथवा कवि की वैयक्तिक स्वाधीनता का तर्क प्रस्तुत किया जाता है और यह तर्क मानव के मौलिक मूल अधिकार स्वाधीनता के तर्क से नि:सृत है।

यह तर्क भाववादी दार्शनिक विचारधारा की देन है। इस विचारधारा के अनुसार आदमी, वस्तुजगत् से नहीं, अहंजगत् में विद्यमान परमसत्य से, एकात्म होना चाहता है। इसीलिए ऐसे आदमी का कोई भौतिक सम्बन्ध नहीं होता और प्रत्येक ऐसा आदमी अपना अहंवादी परमसत्यीय जीवन जीकर कृतार्थ होने में ही अपनी सार्थकता समझता है।

किंतु वस्तु-सत्य इस विचारधारा के विपरीत है। वस्तु-सत्य ही आदमी के व्यक्तित्व का निर्माण करता है और वस्तु-सत्य के जगत् में ही आदमी जीता-जागता, सोचता-विचारता और देश-काल को अपने कर्मों से अपने और दूसरों के लिए अनुकूल बनाकर मानवीय बनाता है। विज्ञान ने परमसत्य की अवधारणा को असत्य सिद्ध कर दिया है।

लेकिन परमसत्य की अवधारणा से उद्‌भूत कई प्रकार की भ्रामक मान्यताएँ अब भी, आज भी, देश-विदेश में प्रचलित और प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं भ्रामक मान्यताओं के बल-बूते पर यह भी प्रतिपादित किया जाता है कि वह अपने ही अहं का काव्य लिखे। उसे वस्तु-जगत् से परिचालित नहीं होना चाहिए। अगर वह परिचालित होता है तो वह कृतित्व उसका नहीं, आरोपित कृतित्व होगा। साम्राज्यवादी और पूँजीवादी देशों में इसी भ्रामक अहंवादी स्वाधीनता का बोलबाला है। वहीं से यह भ्रम हमारे देश में भी आया और छाया है। अपने हिन्दी-काव्य में इसके परिणामस्वरूप यह हुआ है कि या तो कवि नव रहस्यवादी रचनाएँ लिख सके हैं या कि स्वयं के आत्म-सत्य मात्र की अभिव्यक्तियाँ करने लगे हैं या कि निरन्तरता से हट कर क्षण-क्षण मात्र की असंबद्ध तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगे हैं। वास्तव में स्वाधीन हुआ ऐसा कवि अराजक कवि हो गया है। ऐसे अराजक कवि को मानववाद का संपोषक कवि नहीं कहा जा सकता और न ही उसकी रचनाओं को मानव-मूल्यों की रचनाएँ कहा जा सकता है। आमआदमी वस्तु-सत्य को जीता-जागता बदलता और खुद भी बदलता आदमी है। आमआदमी की कविता आमआदमी की चेतना की वस्तु-सत्य से सम्पृक्त कविता है। आज इसी कविता का युग है।

❐

प्रगतिशील कविता : परम्परा और नवीनता

परम्परा क्या है? यह बना-बनाया एक रास्ता है, जिसे पहले के कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा निर्मित किया। कविता इसी रास्ते पर चलकर बनायी जाय और जो कुछ अभिव्यक्त हो वह जाने-पहचाने काव्य के गुणों को ले कर प्रकट हो। यही नहीं, कविता में जो कथ्य बिम्बित हो वह भी पुराने परम्परित कथ्यों से निकला हुआ, कुछ थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ, आम आदमी की मानसिकता में प्रवेश पाने योग्य हो और ऐसा न हो कि वह अपने मूलस्रोत का अतिक्रमण कर जाय और नितान्त नवीन हो। इसी तरह कविता के क्षेत्र के बारे में भी कहा जाता है कि वह पहले की शिल्पगत विशेषताओं से रूपायित हुआ हो और वह भी नितान्त नवीन न हो। इन सबका मतलब यह हुआ कि कविता बराबर परम्परा के मोह से ग्रसित रहे और उसी पहले वाले मार्ग का किसी-न-किसी रूप में, अनुसरण करती रहे। क्या यह काव्य-दृष्टि औचित्यपूर्ण मानी जा सकती है? मेरी समझ में ऐसा दृष्टिकोण कविता के विकास-क्रम के लिये सही नहीं होगा। पहली बात तो यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि परम्परा, चाहे जितनी अच्छी हो, ऐतिहासिक बोध को त्याग कर, केवल अतीत के कथ्य और शिल्प से जुड़ी नहीं रह सकती। परम्परा स्वयं इतिहास को ही दोहराती है और व्यापक जीवन को अपनाने में रुचि नहीं रखती है। इसके विपरीत, नवीनता युगीन संदर्भ में नये निरूपित हो रहे इतिहास के घटना-क्रम से सम्बद्ध होकर, जीवन की गतिशीलता को समेटती और पकड़ती है और ऐसा करने में नवीनता, परम्परा की परिपाटी छोड़कर वह सबकुछ व्यक्त करने के लिए कृत-संकल्प होती है, जो आदमी को धर्म-निरपेक्ष होने के लिए और समता के सिद्धान्त से न्यायप्रिय जीवन जीने देने की गारण्टी देती है। यही वह द्वन्द्व है जो परम्परा और नवीनता के बीच चलता रहा है। अपने-आप में न तो परम्परा कोई मूल्य रखती है और न ही नवीनता। दोनों का महत्त्व केवल मानव-जीवन के सन्दर्भ में ही खोजा जा सकता है। इसी प्रकार न तो पूरी परम्परा ग्राह्य हो सकती है और न ही पूरी नवीनता ग्राह्य हो सकती है। पूरी परम्परा के सभी तत्त्व न तो एक जैसे महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, न नवीनता के पूरे तत्त्व एक जैसे महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। निश्चय ही परम्परा के ऐसे बहुत-से तत्त्व हैं जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के बदलने पर विघटित हो जाते हैं और आदमी के साथ जी नहीं पाते। इसी प्रकार युगीन परिस्थितियों के तेजी से बदलते चले जाने की वजह से जो नवीनता उभरती है वह भी जन-जीवन का महत्त्वपूर्ण अभिव्यंजन नहीं करती। परम्परा अनेक रूढ़ हो गये तत्त्वों से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाती। नवीनता भी नये-नये अमानवीय और मात्र व्यक्ति की

इकाई की निजता के तत्त्वों को उछालती रहती है। और इस तरह से वह मात्र वैयक्तिक नवीनता का रूप ले लेती है और जन-जीवन के भाव-बोध और क्रिया-कलाप से विमुख हो जाती है और कभी-कभी तो अहं का विस्फोट हो जाता है या केवल कवि की कटी हुयी मानसिकता का संलाप या मनोवैज्ञानिक ग्राफ बन जाती है।

इसी स्थिति में प्रगतिशील कविता को अपने दायित्व की दिशा खोजनी पड़ी है। सन् 1936 से ही यह कविता अपने इसी दायित्व का निर्वाह कर पाने में लगी है। इस कविता ने सबसे पहले छायावादी काव्य-चेतना से अपना मुँह मोड़ा—छायावाद की तत्सम-गर्भित भाषा से सम्बन्ध विच्छेद किया। रोमांटिक होने से अपने को रोका—कविता को इसने काल्पनिक और परिकल्पनात्मक उड़ानों से अलग किया। तबतक के अपने पहले के लगभग सभी सौन्दर्यवादी काव्य के तत्त्वों से इसने किनारा काटा। आदमी तबतक—आमआदमी—अपनी संज्ञा और अपना आमस्वरूप खो चुका था और वह कवि का बनाया हुआ कलात्मक आदमी बन गया था। प्रगतिशील कविता ने इसके विपरीत, आदमी को उसका खोया हुआ रूप फिर से दिया। इस कविता में आया हुआ किसान गाँव-घर का शोषित किसान प्रस्तुत हुआ। मजदूर भी संघर्ष करता, जीवन जीने के लिए लड़ाई लड़ता हाड़-मांस का इन्सान हुआ। मध्यवर्ग के लोग भी, इस कविता में, अपनी पूरी पहिचान के साथ और कमजोरियों और कुंठाओं के साथ आये। तात्पर्य यह कि प्रगतिशील कविता ने, ऐसा करने में, काव्य की तमाम परम्पराओं को, उसकी रूढ़ियों को, उसकी संकीर्णताओं और सीमाओं को जन-हित में तोड़ा और इस सम्बन्ध में उसने, वैज्ञानिक, आलोचनात्मक और समाजवादी दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर अग्रगामी कदम उठाये। तभी उसमें धर्मान्धता के विरुद्ध तीखे-तीखे शरक्षेप मिलेंगे। शोषकों के विरुद्ध आक्रोश मिलेगा, शोषण के विरुद्ध आन्दोलन मिलेगा, गाँव और शहर के जीवन की विकृतियों के दु:ख दर्द भरे चित्रण मिलेंगे, और साथ-ही-साथ देश और समाज के वे पहलू भी मिलेंगे जो सभ्यता और संस्कृति को कलंकित करते हैं।

जब प्रगतिशील कविता आते ही ऐसा करने लगी और कुछ ही समय में बल और वेग पाकर छपने-छपाने लगी और अपने अनुरूप जनता की मानसिकता बनाने लगी, तभी इसके विरुद्ध पूँजीवादी प्रेस में उस समय के परम्परावादी लेखकों के दल और वैयक्तिकता के समर्थक और संस्थापक तथाकथित बौद्धिक लोग होहल्ला करने लगे और इसे आरोपित कविता कह कर रूसी अभिहित करने लगे और इसे भारतीय संस्कृति और सभ्यता को विनष्ट करनेवाली बताने लगे। निश्चय ही अपने संघर्षशील विकास-क्रम में यह कविता उस समय के शासकीय तंत्र को भी खतरनाक लगने लगी। देश की दक्षिणपंथी, पूँजीवादी व्यवस्था की पोषक सरकार इसपर कड़ी नजर रखने लगी और काँग्रेसी सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं पर सरकारी आक्रमण होने लगे और प्रगतिशील लेखक पकड़े जाने लगे। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में पड़कर प्रगतिशील कविता का आन्दोलन रुक-रुक कर साँस लेता रहा और प्रगतिशील रचनाएँ कम-कम छप पाने लगीं। इस दौरान में परम्परावादी खेमे के लोग यही कहते हुए नजर

आते थे कि प्रगतिशील कविता तो कविता कतई नहीं है, वह राजनीति है और राजनीति साहित्य के समकक्ष नहीं रखी जा सकती। यह लांछन लगाया तो गया और इसने अपना कमाल भी दिखाया, लेकिन ऐसा नहीं हो सका कि प्रगतिशील कविता की सरस्वती विलुप्त हो गयी हो। वह संघर्ष झेलती हुयी, थपेड़े खाती हुयी, छोटे-छोटे प्रयासों से डगमगाती, जनता के बीच पहुँचती रही और जन-मानस को छूती और अपना बनाती रही।

यही वह समय था, जब प्रयोगवाद के अलमबरदारों ने सामने आकर अपनी चाल-फेर शुरू कर दी और वैयक्तिक स्वातंत्र्य के बलपर अपनी-अपनी मौलिकता की इश्तहारबाजी शुरू कर दी। यह लोग राजनीति से सौ कोस दूर रहे। यह लोग देश की समस्याओं और समाधानों से योजनों दूर रहे। यह लोग जन-जीवन से विमुख रहे। न यह जनता के लिये थे और न जनता इनके लिए थी। कविता को इन्होंने अपनी निजता की इकाई बना दी। क्षण में जैसा भी,जो कुछ भी इन्हें महसूस हुआ, उसे ही इन्होंने नवीनता का जामा पहनाते हुए प्रस्तुत किया। यह प्रयोगवादी रचनाएँ उन दिनों खूब छपीं। इनकी पत्रिकाएँ निकलीं। इनके मंच बने। इनकी पुस्तकें छपीं। और कविता समाज और देश की मानसिकता की कविता न रह गयी, बल्कि खण्डित विखण्डित व्यक्तियों के अहम् की अभिव्यक्ति रह गयी। यह क्रम चला और चलता रहा। कुछ ही दिनों में इसमें अन्तर्विरोध प्रकट हो गये और इसके खिलाफ आवाजें इधर-उधर से उठने लगीं। असंतुष्टि पैदा हो गयी। जिनके सिर सेहरा बँधना था, बँध चुका और वे ही प्रयोगवाद के प्रवर्तक और पुरोधा बन गये और मान-सम्मान से महिमा-मंडित हुए।

विश्वविद्यालयीय बौद्धिकों में इस प्रयोगवाद की प्रतिक्रिया हुयी और एक नया वाद चलाया गया। यही वाद 'नयी कविता' के नाम से चालू हुआ और अब नये कवि अपने-अपने भाव-बोध और विचार-बोध व्यक्त करने लगे। उनका लक्ष्य कविता में प्रयोग करना नहीं रह गया। उन्होंने कविता को प्रयोग से निकालकर अपनी-अपनी इकाइयों के तनावों और कुंठाओं से, वर्जनाओं से और सामाजिक विसंगतियों से, खीज-खीजकर उसको समाजमुखी बनाने का प्रयास किया। वैसे नयी कविता में जो समाजमुखता थी, वह वास्तव में व्यक्तिवादी मुखता थी। वह कतई समाजवादी मुखता नहीं थी। भ्रम में पड़े अनेकानेक बौद्धिक इस नयी कविता को ग्राह्य समझते रहे और उसी की ओर खिंचते चले गये और विश्वविद्यालयों के अधिकांश अध्यापक और प्राध्यापक और बुर्जुआ सभ्यता और संस्कृति के समर्थक और संपोषक इसकी दावेदारी करने लगे। नयी कविता का क्रम भी चला और चलता रहा और अब तो पाठ्य-पुस्तकों में भी इसे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। यहसब हुआ लेकिन कविता आदमी की कविता– यानी सामाजिक आदमी की कविता–यानी अपने देश की राजनीति से जुड़ी मानसिकता की कविता नहीं हुयी, बल्कि वह निजी वैयक्तिकता की कविता हुयी, यानी मात्र अहं की चेरी हुयी या रूपवादी हुयी, प्रयोगवादी हुयी, क्षणवादी हुयी, कुंठावादी हुयी या विसंगतिवादी हुयी।

यह सब होता रहा और देश की राजनीति अपने ढंग से इधर-से-उधर चलती-चलाती रही और यथास्थिति की व्यवस्था लगातार, अबतक आम आदमी के सिर पर भूत की तरह सवार रही और वह, एक भ्रम से दूसरे भ्रम तक, भटकता-भूलता, जैसे-तैसे, दु:ख-दर्द लिये-लिये जीता रहा और भीतर-ही-भीतर सरकार और नेताओं के खिलाफ अपनी मानसिकता बनाता रहा। ग्यारह वर्ष तक इन्दिरा सरकार को पीठ पर लादे, पैर लटपटाते चलता रहा। वह दिन भी आया, जब यह सरकार गिरायी गयी और देशभर में आम चुनाव हुए। जनता पार्टी सत्तारूढ़ हुयी। जनता के राजनेता आये तो उसी दल से जिस दल में यथास्थिति के प्रति माया और मोह व्याप्त था। इसलिए यह राजनेता केवल इसी पचड़े पर रहे कि इन्दिरा और उसके समर्थकों को नीचा दिखाया और सताया जाय और पण्डित नेहरू के बनाये लोकतांत्रिक सिद्धान्तों को नकारा जाये और उसके स्थान पर ऐसी नीतियों को देश पर थोपा जाये जो युगीन तकनीकी उपलब्धियों के अनुकूल न हों, वरन् देश को देश की सीमाओं के अन्दर ही गाँव-नगर में, कैदकर दिया जाये और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी राष्ट्रीय स्तर पर ले आकर समाजवाद से शून्य कर दिया जाय, ताकि जनता की मानसिकता केवल आदर्शोन्मुखी होकर, भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए संघर्षोन्मुखी न हो सके। अब जनता पार्टी भी टूटकर बिखर गयी और उसके हाथ से शासन की बागडोर निकलकर पुन: इन्दिरा के पास पहुँच गयी।

यही है वह समय जब इनसब तथ्यों को लेकर सही परिप्रेक्ष्य में विचार करना है कि प्रगतिशील कविता की शुरू से लेकर आजतक की यात्रा कैसी रही और उसकी अगली दिशा क्या होगी? विवेक तो यही कहता है कि जिस सिद्धान्त को लेकर प्रगतिशील कविता का आन्दोलन खड़ा किया गया था वही सिद्धान्त सही था और उसकी तब की दिशा ही सही दिशा थी। इसलिए भविष्य में प्रगतिशील कविता को उसी दिशा की ओर प्रयाण करना है और इसके सिवा और कोई दूसरा रास्ता नजर नहीं आता। इससब राजनीति होने-हवाने के बीच में प्रगतिशील कविता, यह तो नहीं कहा जा सकता कि चुप रही हो या छिप गयी हो। वह अपने सही पथ पर चलती रही और जन-जीवन से उसके क्रिया-कलापों को उकेरती रही। और धीरे-धीरे पकते-पकाते नये मानव-मूल्यों से अभिषिक्त होती रही और कवि को जन-जीवन का चितेरा बनाये रही। इसकी यह क्षमता वर्तमान सन्दर्भ में और भी सराहने योग्य है और इसी क्षमता को व्यापक-से-व्यापकतर बनाने की आवश्यकता है। अभी अपनी जनता की मानसिकता सही दिशा में नहीं जा रही। प्रगतिशील कविता को ही सही मानसिकता प्रदान करनी होगी। सही मानसिकता बनाने के लिए ही कई वर्षों से विभिन्न नगरों और कस्बों से साहित्य की लघु पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं और इस काम को नौजवान साहित्यिक कर रहे है। यह युवा पीढ़ी खुलकर नियतकालीन और अनियतकालीन पत्रिकाएँ निकालती रहती हैं और यह सभी साहित्यिक अवैतनिक सम्पादन कार्य सम्पन्नकर रहे हैं। उनका यह प्रयास पूरी तरह से सराहनीय है कि वे अपने-अपने क्षेत्र की जनता को नयी मानसिकता देने में जुटे हुए हैं। यह उत्साही उस ओर भी कलम चलाने से नहीं

चूकते, जहाँ के तथाकथित पूँजीवादी प्रेस के चाकर लेखक इस मानसिकता के विपरीत आक्रमण करते रहते हैं और राजनीति के प्रभाव से अलग-थलग किये रहते हैं। वे, यही नहीं, यह झूठा प्रचार भी जमकर इस बात का करते रहते हैं कि कवि का व्यक्तित्व ही सब कुछ है और इसके व्यक्तित्व को अन्यान्य प्रभावों से अक्षुण्य रखने में ही उसकी सार्थकता और सिद्धि है। यह लघु पत्रिकाएँ, हालाँकि एक संगठित देश-व्यापी प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी उनकी दिशा उसी ओर है। यह प्रयास इस बात का प्रमाण है कि सन् 1936 से चल रहा प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन कमजोर भले ही हो गया हो, तबसे आजतक बराबर सक्रिय रहा है।

अलावा इसके, बाँदा, आगरा, भरतपुर, गया, साहिबाबाद, सतना और कई कस्बों और नगरों में, अखिल भारतीय स्तर पर, और प्रान्तीय स्तर पर भी, प्रगतिशील साहित्यिक सम्मेलनों का आयोजन होता रहा है और अनेकानेक छोटे-बड़े प्रगतिशील लेखक व युवापीढ़ी के नौजवान इसमें सम्मिलित होते रहे हैं और वे प्रगतिशील लेखन की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहे हैं। ऐसे प्रयासों को सही दिशा और दृष्टि देने के लिए ही लेखकों के प्रगतिशील महासंघ की स्थापना भी हुयी और अब देश के विभिन्न भागों के प्रगतिशील लेखकों का पारस्परिक सम्पर्क होने लगा है और सबके सहयोग से इस विचार को बल और वेग मिला है कि प्रगतिशील साहित्यिक सृजन न तो किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की मानसिकता का सृजन है, न प्रयोगधर्मा है, और न वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति है, बल्कि वह एक ऐसा सृजन है जो संघर्षशील मानव-समुदाय के जीवन की समग्रता को सर्वोपरि समझता है और इसीलिए, कोरे मानववाद के आदर्श को छोड़कर ऐसे मानववाद की अवतारणा के लिए प्रतिबद्ध है, जो जीवन के द्वन्द्व में ही आदमी को लगाये रहता है और आदमियों की मुक्ति उनके बीच में ही खोजता है। इसीलिए प्रगतिशील लेखक और कवि—आदमियों को आदमी बनाने का, आदमी की तरह सोचने-विचारने का, आदमी के क्रिया-कलापों में लगाये रहने का एक क्रान्तिकारी मानववाद है। तभी तो प्रगतिशील कवि आदमी के, समाज के, आदमियों के कार्य-कलाप के, उनके द्वन्द्व और संघर्ष के सहयोगी और समर्थक कवि हैं।

प्रश्न अब यह है कि प्रगतिशील साहित्यिक सृजन आगे किस ओर चले?

इन्दिरा गाँधी की हार, जनता पार्टी का शासन में आना और 29-30 महीनों में ही जनता पार्टी की हार, जिस प्रकार के जन-मानस को व्यक्त करती है, उसी को अच्छी तरह से समझना होगा और फिर उसको पहचान कर उसी के भीतर प्रवेश करना होगा और फिर जनता के लिए ही प्रगतिशील साहित्यिक सृजन करना होगा। यह सच है कि जनता अभी राजनीतिक दाँवपेंच के मर्म को नहीं समझती और न ही वह यह जानती है कि कौन सी शासन-व्यवस्था से उसका वास्तविक उद्धार हो सकता है। वह तो छोटे-मोटे लाभों और हितों के लिए ललकती रहती है और इसलिए छोट-मोटे शासकीय सुधारों से सन्तोष कर लेती है और मूलभूत समता के अधिकारों की लम्बी लड़ाई नहीं लड़ पाती और न ही उस ओर अपना ध्यान करती है। इसीलिए वह रह-रहकर काँग्रेसी

छाप के नेताओं की पिछलग्गू बनी रह जाती है और समाजवादी अथवा वामपक्षी पार्टियों से कतराती रहती है, क्योंकि दूसरी पार्टी वाले लोग उसे कोई लाभ नहीं पहुँचा पाते, वरन् उसे यथास्थिति वाले व्यवस्था के विरोध के मोर्चे पर लाकर खड़ाकर देते हैं और वह बजाय अपना हित-साधन करने के, शासकीय दंड और दमन सहती रहती है और अपना दैनिक जीवन कंटकमय कर लेती है।

प्रगतिशील लेखक संघ और उसके सदस्य ऐसी जनता की वर्तमान मानसिकता को कैसे बदलें और ऐसा क्या करें जो अपने मूलभूत समता के अधिकारों की प्राप्ति के लिए मतदान देकर दक्षिणपंथी नेताओं को पराजित करें और समाजवादी या वामपक्षी विचारधारा वाले प्रत्याशियों को मतदान दे कर विजयी करें और तब इस योग्य हों कि वास्तव में उसके हित में जनवादी, शोषणहीन, न्यायप्रिय शासन स्थापित हो सके।

देखना यह है कि अपने देश की वर्तमान मानसिकता को किस तरह प्रगतिशील बनाया जा सकता है। परम्परा का एक रास्ता है और नवीनता का दूसरा रास्ता है। दोनों रास्तों से चलकर जन-मानस को उद्वेलित किया जा सकता है और पहले भी ऐसा किया जाता रहा है, किन्तु अब इस ओर अधिक सक्रिय होकर काम करने की जरूरत है।

क्या प्रगतिशील कवि परम्परा को एकदम तिलांजलि दे दें, जैसाकि नौजवान पीढ़ी के कवि चाहते रहे हैं और उसके लिये मंचों से भी पूरी परम्परा को नकारते रहे हैं? यह नकारात्मक समझ किसी भी प्रकार से साहित्य के विकास-क्रम के लिए विवेकशील नहीं कही जा सकती। पूरी-की-पूरी साहित्यिक परम्परा कभी भी जड़ नहीं रही है और न ही उस परम्परा में अभिव्यञ्जित मानव-समाज अमूर्त मानव-समाज हुआ है। परम्परा में ऐसे महाकाव्यों की भी सृष्टि हो चुकी है जो जन-जीवन के समक्ष अनेकानेक प्रकार की रूढ़ियों से उपजे गलत रुझानों को परास्त करते रहे हैं। परम्परा ने आदमी को जीने का नैतिक बल भी प्रदान किया है। उसने लोक-कल्याण के लिए भी आदमियों को रास्ता दिखाया है। उसने आदर्श चरित्रों के माध्यम से आसुरी प्रवृत्तियों के समुदाय से लोहा लेना भी सिखाया है। उसने प्रकृति के प्रति और अपने परिवेश के प्रति आदमी में प्रेम पैदा किया है। ऐसी और भी कई मानवीय क्षमताओं को उसने उभारा है और शताब्दियों से विकसित हो रहे मानव-मूल्यों की ओर उसे अग्रसर किया है। परम्परा की यह विशिष्टताएँ अब भी अपना स्थान रखती हैं। इन्हीं से आदमी निखरा और पौरुषेय हुआ है। परम्परा में लिखी गयी कविताओं में यही तत्त्व मिलते हैं। अब देखना यह है कि आज के युगीन संदर्भ में क्या यह तत्त्व आज के मानव-बोध को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विकसित कर सकते हैं और उसे भयावह यथास्थिति की व्यवस्था से उबार सकते हैं। निश्चय ही ऐसे तत्त्वों को प्रगतिशील काव्य-सृजन में प्रविष्ट करना होगा, अन्यथा परम्परा के इन तत्त्वों को नकार कर काव्य के सृजन में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी और यह अराजक स्थिति न आदमी को आदमी बना सकती है और न उसके काव्य को मूल्यवान् कर सकती है। जनवादी उभार के दौर में उपजी क्रान्तिकारिता केवल निहंग क्रान्तिकारिता ही हो सकती है, जिसका लक्ष्य एकमात्र यही

होता है कि वह अब मनमाने ढंग से, बिना किसी साहित्यिक मानदंड के, नंग-नाच करती रहे। काव्य-सृजन में ऐसे नंग-नाच का कोई रचनात्मक मानव-मूल्य नहीं होता। काव्य-सृजन तो कभी भी एकदम नये सिरे से नहीं किया जा सकता। उसे तो पहले से प्राप्त सधे-सधाये विवेक के चरण से आगे ले जाना होता है। काव्य में नये मानवीय और जनवादी कथ्य को समाविष्ट करने के लिए प्रगतिशील कवि को वैसा ही श्रमसाध्य द्वन्द्व अपने से और अपनी लेखनी से करना होगा, जैसा पूर्ववर्ती बड़े कवि कर चुके हैं। शब्दों को, उनके पहले के बने अर्थ-बोधों से अलग नहीं किया जा सकता, इसीलिए उन्हीं अर्थ-बोधों को नये कथ्य के उजागर करने के लिए प्रयुक्त करना होगा। 'क्लासिक युगीन' कवियों की प्रतिभा, आदमी के मनोभावों की ओर होती चली गयी और परिणाम यह हुआ कि वह अपनी चरम परिणति तक पहुँचते-पहुँचते अमूर्तन के चित्रण में विसर्जित हो गयी। मध्ययुगीन कवियों की प्रतिभा भी पूर्ववर्ती उपलब्धियों से प्रभावित हुयी और वह भी या तो भगवत् लोक में पहुँच गयी या राज-दरबारों की विलासिता में लिप्त हो गयी। हिन्दी के नव-जागरण काल में नयी मानसिकता, मानवीय दायित्वों को लेकर आगे आयी, लेकिन वह भी पूरी तरह से प्राचीन प्रभावों से और पौराणिक परम्पराओं से द्वन्द्व करती हुयी आमआदमी की मानसिकता बनने का प्रयास करती रही। इसी दौर में लोक-साहित्य के तत्त्व भी अपनाये गये और काव्य को उसके महिमामंडित सिंहासन से उतार कर जनमुखाभिपेक्षी बनाया गया। यह क्रम हिन्दी के काव्य को विकसित करता हुआ आगे भी चलता रहा और वह दिन भी आया, जब राष्ट्रीय जागरण की कामना व्यक्त हुयी और स्वाधीनता पाने के लिये कार्यक्रम चल पड़े। ऐसे दौर में हुआ काव्य-सृजन राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और देश के गत-वैभव की ओर भी जनता को ले जाना चाहता है। यही नहीं, उसे भारतीय संस्कृति के मोह-पाश में जकड़ भी लेता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, किन्तु गत-वैभव का मोह-पाश वास्तव में राष्ट्रीय चेतना को दिग्भ्रमित ही कर सका। राष्ट्रीयता अतीतजीवी नहीं है, वह अतीत की देन उन जड़ताओं और रूढ़ियों को तोड़ने का दायित्व वहन करती है, जो देश के आदमियों को मिल कर व्यवस्था बदलने नहीं देतीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह अच्छी तरह से उभरकर सामने आ जाता है कि प्रगतिशील काव्य-सृजन, दायित्वबोधी हो और वह समाजवादी यथार्थवाद के हित में हो, ताकि वह आदमी को नयी मानसिकता दे सके, जिसे पाकर आदमी अपने चारों ओर प्राणपीड़क परिवेश और उसमें फल-फूल रही शोषक व्यवस्था को जनहित में बदल सके और धर्म, और जातिगत विषमताएँ समूल नष्ट हों और जीवन के हर क्षेत्र में नवाचार की अवतारणा हो।

विषय परम्परा और नवीनता के शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में जहाँ नवीनता है, वहाँ नवाचार होना चाहिए। नवीनता वह अर्थ ध्वनित नहीं करती जो नवाचार करता है। प्रगतिशील काव्य-सृजन नवीनता से कभी भी, किसी दशक में संस्कृत नहीं हुआ, क्योंकि नवीनता स्वयं में हवाई शब्द है और किसी भी प्रकार की नूतनता के

लिए प्रयुक्त हो सकता है। इसके विपरीत नवाचार एक ऐसे अर्थ-बोध को पा चुका है, जो आदमी के आचार से, पहले से जुड़ा हुआ है और उसको चरित्रगामी दिशा की ओर निर्देशित करता है। नवीनता तो कवि को इस बात की पूरी छूट देती है कि वह मौलिकता के नाम पर चाहे अहंभोगी हो जाय, चाहे शून्यभोगी हो जाये, चाहे ब्रह्मानन्दी हो जाये और चाहे शुद्ध कलावादी हो जाये। नवाचार में ऐसे भोगी हो जाने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। नवीनता, अराजकता को भी प्रश्रय देने वाली हो सकती है, लेकिन नवाचार ऐसी किसी अराजकता को प्रश्रय देने वाला नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त नवाचार के द्वारा ही क्षेत्रीय संकीर्णताओं से, प्रान्तीय अतिवादों से और कुत्सित समाजशास्त्रीयता से आदमी मुक्त होता है। राष्ट्रीय धरातल पर भी यही नवाचार आदमी को खोखले लोकतंत्र से बाहर निकालता है और समता और न्याय को निष्पत्ति के लिये अवसर देता है और अन्तर्राष्ट्रीय मानसिकता की समुचित सम्भावनाएँ उपस्थित करता है। अतएव प्रगतिशील कविता का क्षेत्र अब बहुत विशाल और व्यापक हो गया है और उसे, उसी में रहकर उपर्युक्त सभी तत्त्वों की प्राप्ति के लिये सतत संघर्ष करना है।

❐

संज्ञान[1] की कलात्मक अभिव्यक्ति : कविता

कविता आदमी रचता है। इसलिए कविता के रचने में वह अपने को भी रचता चलता है। इसलिए अपनी रची हुई कविता में वह, बराबर प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप में विद्यमान जरूर रहता है। उसके अलावा भी उसकी रची हुई कविता में जो कुछ और विद्यमान रहता है, वह उसके बाहर के संसार का प्रतिबिम्बन होता है। इस प्रतिबिम्बन में बाहर का संसार उसी के माध्यम से, उसी की भाषा में व्यक्त होता है। यह व्यक्त हुआ संसार अपने आंशिक रूप में हर रचना में आता है। यह आंशिक रूप में आया संसार या तो प्रकृति की अभिव्यक्ति होता है या समाज के किसी पक्ष की अभिव्यक्ति होता है अथवा किसी सामाजिक या राजनीतिक घटना-क्रम से सम्बद्ध होता है। अलावा इसके भी, और भी कई प्रकार की वस्तुवत्ता इसमें आयी हुई होती है। अतएव कविता केवल व्यक्ति की मानसिकता या चेतना की इकाई मात्र नहीं होती। वह वस्तुवत्ता से निरूपित हुई एक नितान्त नयी संश्लिष्ट इकाई होती है। यह संश्लिष्ट इकाई मानवीय बोध की इकाई होकर दूसरों के मानवीय बोध की इकाई बन जाती है। ऐसा ही क्रम बराबर चलता रहा है और आदमी ऐसे क्रम के द्वारा ही अपने को, अपने समाज को, अपने परिवेश को और देश-काल के घटना-क्रम को और उसके विभिन्न आयामों को और तदनुरूप कविता को रचता रहा है। इसलिए आदमी को और उसकी कविता को एक साथ उनके ऐतिहासिक सन्दर्भ में जाना और पहचाना जा सकता है।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आदमी प्रकृति से संघर्ष करता रहा और उसे अपने अनुकूल बनाने का श्रमशील प्रयास करता रहा। समूह में रहना उसने सीखा, सामूहिक श्रम करना उसने सीखा; एकसाथ मिलकर जंगल काटना उसने सीखा; आग जलाकर, मिलकर यज्ञ करना उसने सीखा; जानवर पालना उसने सीखा; जानवरों से भूमि जोतना उसने प्रारम्भ किया और बीज बोकर अन्न उपजाना और फसल काटकर घर लाना उसने शुरू किया। इसी अवस्था में वह जमीन, जानवर और अपनी सुरक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने लगा और धीरे-धीरे पर्ण-कुटी और आवास बनाने लगा। अपने इस संघर्षशील जीवन के युग में उसने जो कविता लिखी वह प्रकृति के उदार और

---

1. लेनिन ने संज्ञान (Cognition) को यों व्यक्त किया है : Cognition is the enternal, endless approximation of thought to the object, the reflection of nature in man's thought must be understood not lifelessly, not 'abstractly', not devoid of movement, not without contradictions, but in the enternal process of movement the arising of contradiction and their solution.

अनुदार, सुखद और दु:खद रूपों को अभिव्यंजित करते हुए लिखी। वह तबतक यह नहीं जान सका था कि बादल क्या होता है; बिजली क्या होती है; पानी क्यों और कैसे बरसता है। इसलिए उसने प्रकृति को शक्तिरूपा माना और तभी उसने इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र, जल, थल, पेड़ और पहाड़ के, अँधेरे-उजाले के; और ऋतुओं के देवी-देवताओं की कल्पना की और उन्हीं का स्तवन वह करने लगा कि वे उसपर प्रसन्न हों और उसका भौतिक जीवन सहज और सरल हो और वह समाज की स्थापना करते हुए सम्पत्ति अर्जित करे और ऐसा करने में यदि उसे दूसरे आदमियों के समूहों से युद्ध करना पड़े तो वह युद्ध भी करे और हारे हुए लोगों की जमीन-जायदाद पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे। इसी क्रम में आगे चल कर उसने गण बनाये; गणों में पंचायतें बनायीं; राज्य बनाये; जातियाँ और वर्ग बनाये और निरन्तर अनेक प्रकार के विचारों से संघर्ष करता हुआ आज की इस राष्ट्रीय परिस्थिति में पहुँचा, जहाँ वह वैज्ञानिक विचार-बोध से विभिन्न जीवन-दर्शनों से तरह-तरह की राजनीतिक विचारधाराओं से कई तरह की शासकीय व्यवस्थाओं से गुजरता हुआ अपने मानवीय जीवन का लक्ष्य खोज रहा है।

विभिन्न युगों में चिन्तक हुये हैं। उन्होंने अपने चिन्तन से अपने युगों को प्रभावित किया है और अब भी प्रभावित कर रहे हैं। मुख्यत: रूसी क्रान्ति के पहले विश्व के अधिकांश देशों में भाववादी विचार-दर्शन का ही बोलबाला रहा है और आदमी का जीवन उसी विचार-दर्शन से तदनुरूप सत्य की पकड़ करता रहा है। उस दर्शन से आदमी स्वयं तो त्यागी और तपस्वी हो जाता था, किन्तु दूसरों को केवल परिकल्पनात्मक अमूर्त आदर्श देकर अपनी दैहिक मुक्ति पा लेता था। वह अपने ऐसे निजी प्रयास से मूलभूत भौतिक और सामाजिक परिवर्तन करने की कल्पना तक नहीं कर सकता था। परिणाम यही होता था कि वह सांसारिक बन्धन से अपनी मुक्ति का परमपद या निर्वाण तो पा लेता था, पर समाज के दूसरे सभी लोग यथावत् प्रपंच का जीवन जीते रहने के लिए बाध्य बने रहते थे। इस मानवीय जीवन का वैज्ञानिक और चेतन लक्ष्य मरते दम तक वे नहीं खोज पाते थे। तब के महापुरुषों की यह विवशता थी। तब गरीबी दूर करने का और सबको समान अवसर देने का कोई व्यापक आर्थिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं होता था। आदमी भाग्य और विधाता और देवी-देवताओं की शरण में समर्पित होकर अपनी जीवन-यात्रा तय करता था। आत्म-संतोष कर लेना बड़ा भारी मानवीय गुण समझा जाता था। इसी वजह से आजतक आते-आते उन्हीं आदर्शों और उन्हीं गुणों को लिये-लिये आदमी नेता भले ही बन गया हो, व्यापारी और पूँजीपति भले ही बन गया हो; अधिकारी और सरकारी भले ही बन गया हो, मंत्री, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री भले ही बन गया हो; लेकिन देश के तमाम-तमाम लोग एक घटिया जीवन जी रहे हैं, जो मानवीय नहीं, बल्कि अमानवीय कहा जा सकता है। इसीलिए अपने देश के बहुसंख्यक आदमी वैज्ञानिक और समाजवादी विचारों को आजतक अपना नहीं सके। रूसी क्रान्ति के प्रभाव अपने देश में पड़े। यह प्रभाव-क्षेत्र केवल ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं तक और कुछ एक मध्यम वर्गीय पढ़े-लिखे व्यक्तियों तक ही बना। वे भी

अपने देश की व्यापक भाववादी विचार-प्रणालियों से इतने अधिक निरन्तर घिरे हुये हैं कि उनका समाजवादी दृष्टिकोण, परिवर्तनकामी होते हुए भी, सक्रिय रूप से सफलता पाने में अक्षम हो जाता है।

ऐसी स्थिति के राष्ट्रीय जीवन-क्रम में मूलभूत भौतिक और मानवीय मूल्यों के समतावादी सिद्धान्त के द्वारा परिवर्तन लाने के लिए अब एक ही रास्ता बच रहा है कि देश की चेतना 'संज्ञान' के सिद्धान्त से लैस होकर, समाजवादी यथार्थवाद की अवतारणा करने के लिए कटिबद्ध हो और समस्याओं के समाधान तदनुरूप खोजे।

बात तो समाजवादी यथार्थवाद की सभी करते हैं। ऊपर से लेकर नीचे तक, शासक और व्यवस्थापक और इनके कार्याधिकारी इस बात के पक्षपाती नजर आते हैं। पढ़ी-लिखी जनता के नुमाइन्दे भी और बौद्धिक भी, इसके समर्थन में, अपनी लम्बी-लम्बी जबानें लपलपाते हैं और उत्सुकता और व्यग्रता दिखाते हैं। पर प्रयास करने में पिछड़ जाते हैं और पुराने पचड़े की राजनीतिक समझ से ही काम करने में लगे रह जाते हैं। मूलभूत परिवर्तन करने की जो मानसिकता उन्हें बनानी चाहिए और जो समझ उसके लिए उन्हें जनता में पैदा करनी चाहिए, वह उसे नहीं करते-कराते। कारण चाहे उनकी अपनी निजी विवशता हो, चाहे दूसरों की कठिनाइयाँ हों। फिर देशव्यापी रूढ़ियों से और उसके बनाये इस ऊपरी ढाँचे से लोहा लेना और उन्हें भरभरा कर चूर कर देना कोई आसान काम नहीं है। ऐसा करने में चारों ओर त्राहि-त्राहि मच जाया करती है और देश भर में विरोधी स्वर तीव्र-से-तीव्रतर मुखर हो जाता है। तभी सबकुछ उसी पुराने ढर्रे से चलाने का कार्य-क्रम लागू कर दिया जाता है। भले ही ऐसे कार्य-क्रम से राहत के कुछ रास्ते निकाल लिये जायें, पर व्यवस्था रहती यथास्थिति के चक्कर में ही है। यह सब इसलिए होता रहता है, क्योंकि हम सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं—संकीर्णताएँ हैं—मान्यताएँ हैं—घिसे-पिटे असमर्थ और अमूर्त भाववादी आदर्श हैं और स्वार्थों की टकराहट और कशमकश आड़े आकर अवरोध पैदा कर देती हैं। उसको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शासन ऐसे ही राहत कार्यों के लिए पुराने कानूनों में कुछ नये-नये अधिकार देनेवाली धाराएँ जोड़ देता है या कि आर्डिनेंस जारी कर देता है और जनता के सामने अपनी जनप्रियता का साक्ष्य उपस्थित कर देता है। जनता है कि ऐसे में फँसकर फिर नयी भूल-भुलैया में पड़ जाती है और कुछ समय के उपरान्त ऐसी मिली हुयी राहत से बचने के लिए ललकने लगती हैं। पिछले कई दशकों का इतिहास इसी तरह का रहा है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताएँ कम होती दिखाई नहीं देतीं, वरन् दिनों-दिन उग्र और तीव्र होती जाती हैं। अखबारों में जो समाचार आये दिन पढ़ने को मिलते हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि देश के लोग, देश में अव्यवस्था और असुरक्षा के चंगुल में फँसते जाते हैं। अपराध-वृत्ति और व्यापक उच्छृंखलता क्यों प्रकट होती है? और क्यों उसके निराकरण के प्रयास भी विफल हो जाते हैं? यह एक ऐसी समस्या है, जिसे गहरे जाकर समझना होगा। आदमी जब कोई अपराध करता है तब भी

वह, आदमी रहता है और जिसके खिलाफ अपराध करता है, वह भी आदमी ही होता है। आदमी ही आदमी को अपना शिकार बनाता है। इसके पीछे साम्पत्तिक सम्बन्धों की विषमता काम करती रहती है। साम्पत्तिक सम्बन्ध शाश्वत नहीं हैं फिर भी शाश्वत समझ लिये जाते हैं और उसी को बनाये रखने के लिये, उन्हीं के भीतर, जीते रहने की योजना चलायी जाती है। इसीलिए समाज में कोई बहुत छोटा है तो कोई बहुत बड़ा। किसी के पास जमीन नहीं है तो किसी के पास बहुत जमीन-जायदाद है। कोई दिन-भर हाड़-तोड़ परिश्रम करके दो जून की रोटी कमा पाता है तो कोई, न कुछ करके भी, आराम से दूसरों का श्रम चुराकर अत्यधिक आर्थिक लाभ उठाता है। यही हालत व्यापार के कार्य-क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। सच तो सभी बोलते हैं लेकिन हरएक का सच उनके स्वार्थ का और हित का सच होता है और दूसरे की क्षति और अहित का कारण बनता है। औरतों को आदमियों के समकक्ष अधिकार देने की घोषणा खूब होती है। लेकिन, अब भी औरतें उन अधिकारों से वंचित रह जाती हैं और जैसा जीवन जीने के लिए वे बाध्य बनी हुयी हैं, वैसा कदापि मानवीय जीवन नहीं कहा जा सकता। पिता अपनी पुत्रियों को अपनी जायदाद से, वसीयत लिखकर, वंचित कर देता है। अपने पुत्रों को ही उसे दे जाता है। हर घर में पुत्र की स्थिति, पुत्री से अधिक सुरक्षित रहती है। आदमी ने औरतों को देवी और लक्ष्मी बनाया है और उसे चाँदी-सोने के अलंकारों के मोह से मोह रक्खा है। वह बेचारी शोषित और अपमानित रहती हुयी, अपदस्थ सामाजिक जीवन का दु:ख भोगती रहती है। कभी किसी युग में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने पैर के स्पर्श से शिला हो गयी, अहिल्या को फिर से नारी होने का गौरव प्रदान किया था। ऐसा सम्भव नहीं था, फिर भी पुरुष-प्रधान समाज में अपनी मान-मर्यादा के लिये यह कल्पना-प्रसंग गढ़कर प्रस्तुत किया गया और अबतक की मानसिकता इसे सत्य ही समझती है। यह विडम्बना की स्थिति है। नारी को कोई शाप क्यों दे और वह पत्थर क्यों हो जाये और फिर उसका उद्धार क्यों किया जाये? यह अत्यंत सोच-विचार का विषय है। आज के वैज्ञानिक युग में नारी के उद्धार के लिये, उसके अधिकारों की माँग प्रबल हुयी है, जिन्हें पाकर ही वह पुरुष के साथ सहकर्मी होकर, अपनी खोयी हुयी मान्यता प्राप्तकर सकती है। लेकिन इसपर भी तो पुरुष-प्रधान समाज इस माँग की बराबर अवहेलना करता जा रहा है। वह इस सत्य को समझने से बराबर इनकार कर रहा है कि नारी पुरुष की दासी नहीं है और वह भी पुरुष के समान जीवन जीने की अधिकारिणी है। लिंग-भेद के कारण वह नर से नीची नहीं है। इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ देशभर में व्याप्त दिखती हैं। शिक्षा की सही दिशा यही है कि वह मानव-जीवन को वैज्ञानिक और समाजवादी विवेक से ऐसे संस्कार दे कि अन्धकार से निकलकर प्रकाश पाये। वर्ग-विभक्त समाज वर्ग-हीन समाज हो और विषम साम्पत्तिक सम्बन्धों की बनी-बनायी अवधारणाएँ नष्ट हों और लोक-चेतना, समग्र मानवीय चेतना की निरन्तरता में समाहित हो और नयी कथनी-करनी का नया मानव-समाज बने।

जैसी सामाजिक मानसिकता है, वैसी ही मानसिकता कवियों की भी है। कवि विशिष्ट सम्वेदनशील व्यक्ति होता है। उसके पास भाषा होती है, वह दूसरों के समान ही

साम्पत्तिक सम्बन्धों से बँधा हुआ तदनुरूप जीवन जीने का अभिलाषी होता है। अपने ऐसे ही समाज के लिए वह लिखता है और लिख कर अपनी तुष्टि करता है और दूसरों को वैसी ही मानसिक तुष्टि प्रदान करता है। वह भी पुरुष-प्रधान समाज के आदर्शों से लगा-लिपटा होता है और वह भी शासन और व्यवस्था की तरह अपने भाव-बोध और विचारों में यदा-कदा परिवर्तन करने का प्रयास करता है। फिर भी, उसके किये हुए परिवर्तन के प्रयास, मूलभूत परिवर्तन के प्रयास नहीं होते। इसीलिए कवियों को भी वैज्ञानिक और समाजवादी यथार्थवाद के जीवन-दर्शन से ही अपनी कविताओं की रचना करना परमआवश्यक है। अन्यथा उनकी कविताएँ भी नये आदमी को नयी मानसिकता नहीं दे सकेंगी।

हिन्दी-कविता के अबतक के इतिहास से यही पता चलता है कि वह उसी ऐतिहासिक जीवन के नाना रूपों को जीती चली आयी है, जिस ऐतिहासिक जीवन के रूपों को आदमी का समुदाय जीता चला आया है। पहले जब आदमी ने प्रकृति की विराट शक्तियों से साक्षात्कार किया तो जैसे आदमी ने प्रकृति में देवी-देवताओं की अवतारणा की और वह उनके प्रति समर्पित हुआ, वैसे ही उसी के साथ-साथ उसकी कविता ने भी अपने-आपको देवी-देवताओं को समर्पित किया और उनके अस्तित्व को सर्वमान्य ठहरा कर उनके विविध रूपों को अंकित करती रही। हिन्दी की तब की सरस्वती इसीलिए देवी के पद पर आसीन कर दी गयीं और वह कमल पर बैठी, वीणा बजाने लगीं। बाद को, जब राजे-महराजे आये और प्रभुता-सम्पन्न हुए तो हिन्दी की वही देवी सरस्वती राज-दरबारों की मानसिकता की सम्पोषक, रणरागी और अनुराग-रागी वरदायिनी शारदा हो गयीं। मीराँ ने राज-दरबारी मानसिकता त्यागी तो लेकिन वह राज-दरबार से अलग होकर कृष्ण के बड़े राज-दरबार में प्रविष्ट हो गयीं और तब उनकी मानसिकता मानवीय से दैवी हो गयी, और जो कुछ वह गाने लगीं वह नितान्त अलौकिक हो गया। कृष्ण उपास्य देव बन गये। और मीराँ उनकी उपासिका बन गयीं। साम्पत्तिक सम्बन्धों को तोड़कर भी, मीराँ सामाजिक जीवन में प्रवेश नहीं कर सकीं और धर्म की शरण में पहुँचकर नारी के कर्त्तव्यों को नकार गयीं। उनकी मानसिकता उदात्त होकर भौतिक धरातल से ऊपर उठ गयीं और उनकी कविता जन-जीवन तक न पहुँच सकी। कबीर ने अपने युग के जन-जीवन को एक आलोचक की दृष्टि से देखा और तब के युग की विषमताओं से उनकी आँखें लड़ीं और उन्होंने वर्गहीन मानसिकता से आमजीवन को जाँचा और परखा। तभी उनकी कविता में निर्भीक आदमी की मानसिकता, धर्मान्धता और पाखण्ड को तोड़कर जीवन्त शब्दों में व्यक्त हुई। यह उनका बड़ा साहसिक काव्य-कर्म था। लेकिन इस काव्य-कर्म की धारा आगे उसी रूप में प्रवाहित न हो सकी और हिन्दी-कविता यथावत् अपने पुराने पथ पर ही अग्रसर होती रही। सूर और तुलसी ने भी कृष्ण और राम के चरित्रों का गुणगान किया। सूर के पदों में कृष्ण की बाल-लीलाओं का, उनके खेल-कूद का, उनके ग्वाल-बालों का बड़ा मनमोहक चित्रण मिलता है। यही नहीं, सूर की मानसिकता ने कृष्ण का संघर्षशील

व्यक्तित्व भी प्रस्तुत किया। कृष्ण कालियानाग नाथते हैं और उसके फन पर सवार होकर अपने असाधारण वीरत्व का परिचय देते हैं ताकि उस नाग से संत्रस्त समाज सुख और शान्ति से जीवनयापन कर सके। इसी तरह वह पर्वत छिंगुली पर उठाकर मूसलाधार वर्षा से उस क्षेत्र की जनता को उबार लेते हैं। पूतना को भी कृष्ण मारते हैं और कई दैत्यों का भी संहार करते हैं। इसी प्रकार वह कंस का भी सर्वनाश करते हैं और ग्वाल-बाल और गोपियों के जीवन के संरक्षक सखा बन जाते हैं। वही कृष्ण कौरवों-पाण्डवों के युद्ध के समय पाण्डवों का पक्ष लेते हैं। इनसब बातों की जो भी अभिव्यक्ति सूरदास ने की है, वह ब्रजभाषा में उस मण्डल की भाषा में की है। इसी कृष्ण-काव्य का प्रभाव व्यापक जन-मानस पर पड़ा और कृष्ण आराध्य देव बन गये। इसी कृष्ण-काव्य को पढ़कर और गाकर सहज साधारण लोग आनन्द प्राप्त करते रहे और भव-बाधा से मानसिक मुक्ति प्राप्त करते रहे।

तुलसी ने राम-काव्य की रचना की। उन्होंने 'रामचरितमानस' लिखा। उनकी भाषा अवधी थी। उनकी कविता इसी भाषा में साकार हुयी। उन्होंने राम को भगवान् माना, लेकिन उनके चरित्र की वजह से उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में उजागर किया। आज भी 'रामचरितमानस' देश के बहुसंख्यक लोगों का प्रिय और पूज्य काव्य बना है।

सूर और तुलसी के कृष्ण और राम के गुणगान में ही जनता अपने जीवन की सार्थकता और सिद्धि समझती है। उन्हीं के गुणगान में डूबकर वह सांसारिकता से मुक्ति पाती है। इस बात से यही सिद्ध होता है कि देश की आम जनता का अपने भौतिक जीवन से वह लगाव नहीं है, जो लगाव पारलौकिक जीवन से है। इस लगाव से जनता की मानसिकता का रूप प्रकट होता है। यह मानसिकता भौतिक जीवन से परे की दैवी मानसिकता कही जा सकती है। यह अवश्य है कि ऐसी मानसिकता से भी मनुष्य ने जीवन जीकर उसी के अनुरूप अपना समाज बनाया और भक्तिभाव से परमात्मा में लीन हो गया। यह सब तत्कालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव था। तब छन्द के समाहार का केन्द्र-बिन्दु अलौकिक सत्ता थी। फिर भी इस अलौकिक केन्द्र-बिन्दु तक पहुँचने के लिए, सभी को, उस अलौकिक सत्ता को, आदमी की तरह देखना, सुनना और समझना पड़ा। मतलब यह है कि वह अलौकिक सत्ता मनुष्य के बीच मनुष्य के रूप में ही चरित्र को चित्रित करने के लिये विवश और बाध्य हुयी। इसी विवशता और बाध्यता की वजह से आदमी ने भगवान् को स्वीकार किया और इसी मनोवृत्ति से संलग्न अपना जीवन-यापन करता रहा कि जब भगवान् को ही दु:ख-द्वन्द्व और कष्ट भोगना पड़ता है तो उसकी बिसात ही क्या है, कि वह उस दु:ख-द्वन्द्व और कष्ट को न भोगे। अतएव आदमी की यह आत्मपरकता ही उसे जिलाती रही और वह सक्रिय रूप से दु: ख-द्वन्द्व से उबरने के लिये कोई मौलिक और भौतिक समाधान नहीं खोज सका। उसकी तत्कालीन वस्तुवत्ता पूर्ववत् कायम रही। उसमें मूलभूत मौलिक परिवर्तन नहीं हो सके। तबकी मानसिकता और सत्य के पकड़ने का संज्ञान दुर्बल था। वह न तो वैज्ञानिक हुआ था न ही लोकवादी हुआ था।

ऐसी मानसिकता का यही क्रम बराबर चलता रहा। आदमी ने भगवान् को अपनी आत्मा समर्पित कर लोक-जीवन से अपने को अलग कर लिया। उसकी आस्था न अपने लोक-जीवन के पक्ष में रही, न आदमी-आदमी में रही। आदमी मात्र यान्त्रिक होकर दैनिक जीवन जीने में लगा रहा। इसीलिए समाज और देश में कोई आमूल परिवर्तन न हो सका। देश जैसे धर्मबद्ध हो कर भवसागर से पार उतर गया। हरएक आदमी जैसे सम्पुटित कमल की इकाई बन गया और जिस पंक में वह जन्मा, वह पंक, पंक ही रह गया। भारतेन्दु के समय में जातीय चेतना जगी और उनके प्रयास से हिन्दी-कविता को मानवीय स्वर और सम्वाद मिले। कविता जीवनमुखी हुयी और आदमियों के पारस्परिक आचार -व्यवहार में पैठने और पल्लवित होने लगी। आदमी को आदमी होने की और आदमी की तरह जीने की लालसा और ललक हुयी। कविता शास्त्रीय काव्य-लोक से निकलकर लोक-जीवन के हर्ष-विषाद से आलोड़ित होने लगी। आदमी ने अपने अस्तित्व को मूल्यवान् समाज की संगठित इकाई होने की, मानसिक प्रक्रिया पैदा की। उसे समाज की महत्ता समझ में आयी। राष्ट्रीयता का भाव भी जागा। कविता तब से इसी ओर आगे बढ़ती चली गयी। उसका प्रसार लौकिक हो गया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कविता पूर्णत: अलौकिकता से मुक्त हो गयी, लेकिन उसकी पहले की अलौकिकता मन्द और क्षीण अवश्य हो गयी। जब बाद को राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए विदेशी सरकार से लड़ाई होने लगी और स्वतंत्रता की प्राप्ति का आन्दोलन कई-कई कठिनाइयों को पार करता हुआ, जन-जीवन को प्रभावित करता हुआ और आमआदमी को समेटता हुआ, बल और वेग पाकर, उभरता चला गया तो हिन्दी कविता भी,उसी के अनुरूप, वैसी ही मानसिकता से रची जाने लगी। स्वदेशी का आन्दोलन छिड़ा। कविता का स्वर स्वदेशी हुआ। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ। कविता विदेशीपन के प्रति अनुदार हुयी। देश की चेतना जातीय संस्कारों से सम्पुष्ट हुई। देश एक बड़ा परिवार बन गया। सभी के दु:ख-दर्द, एक-दूसरे के दु:ख-दर्द हो गये। पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव बढ़ा। प्रान्त-प्रान्त के लोग एक बड़ी माला में गुँथ गये। प्रथम महायुद्ध के बाद जन-जागृति जोरदार हुई। हिन्दी-कविता ने इस जागरण की अभिव्यक्ति पायी। कवियों के मन पंख खोलकर मुक्त आकाश में उड़ने लगे। प्रकृति के सौन्दर्य से वह अभिभूत हुई। उसकी कल्पना सूक्ष्म और स्पंदनशील हुई। जो प्रकृति पहले उद्दीपन के लिए ही प्रयुक्त होती थी, वह प्रकृति अब स्वयं कविता का विषय बन गयी। आदमी को अब अपने देश की प्रकृति से प्यार हो गया। आदमी उसके अनूठे रूप-सौन्दर्य को अपने जीवन जीने के लिए आवश्यक समझने लगा। इस प्रकार प्रकृति भी हिन्दी-कविता की काव्य-भारती बन गयी। यंत्रवत् जीवन-यापन करनेवाला आदमी, दैनिक समस्याओं के घेरे से निकलकर कल्पनाशील हुआ और उसकी चेतना में रंग-रूप भर गये। प्रकृति को वह अपने ही समान जीवंत समझने लगा। कविता की जकड़-बंदी टूटी। छंदों के अवरोध हटे। देश के व्यापक जन-जीवन की लय उसे प्राप्त हुयी और वह आदमी की समग्रता की कविता हुयी। पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी इसी युग के प्रमुख कवि हैं। इन लोगों ने हिन्दी-कविता को अपना योगदान देकर कई प्रकार से समृद्ध किया।

इत्तिवृत्तात्मक काव्य की परिधि टूटी और मानवीय मनोवेगों को स्वच्छंद होने का अवसर मिला। खड़ी बोली मानवीय मनोवेगों की समर्थ बोली हुई, लेकिन छायावादी मानसिकता आमआदमी की मानसिकता तक न पहुँच सकी। निराला ने इस दिशा में पर्याप्त संतोषजनक काव्य-सृजन किया। उन्होंने अपनी कविताओं के संकलन 'नये पत्ते' को देकर आम आदमी की मानसिकता को प्रभावित किया। इस संकलन की कविताओं में शोषित और श्रमजीवियों के मनोवेग बड़े आवेगपूर्ण ढंग से, उन्हीं की आमभाषा में, व्यक्त हुये हैं। अपने पूर्वकालीन रूप का छायावाद, उत्तरकालीन छायावाद तक आते-आते लोक-जीवन से जुड़ गया था। तभी सन् '36 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुयी। फिर तो कविता साहित्यिक घेरा-बंदी तोड़कर मजदूर, किसान और आमआदमी तक पहुँच गयी और प्रगतिशील कवि, इन लोगों की मानसिकता बदलने लगे। इन कवियों के पास ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का जीवन-दर्शन था और ये रूसी क्रान्ति की सफलता से प्रेरित हुये थे तथा अपने यहाँ भी शोषणहीन समाज की स्थापना करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। जन-जीवन के लिये समर्पित हुयी इस कविता ने पूर्वकालीन और पारम्परिक साहित्यिकता से कविता को बाहर निकाला, ताकि आम आदमी भी कविता को कविता की तरह प्यार करने लगे और समाजवादी यथार्थवाद की मानसिकता से वह सम्बद्ध होने लगे। उद्देश्य यही था कि आदमी को उसके अधिकार मिलें, वह धर्मनिरपेक्ष हो जाये। समता के आधार पर वह न्यायप्रिय जीवन जिये और सबको, जीने के समान अवसर मिलते रहें। यह प्रमुख रूप से जीवनमूलक प्रतिबद्ध मानसिकता का काव्य-आन्दोलन था। इसीलिए इस आन्दोलन के कवि वैयक्तिकता के उद्घोषक कवि नहीं थे। वे कवि की मानसिकता को जनता की मानसिकता से अलग नहीं रखते थे। न ही वह व्यक्ति की निजी अभिव्यक्ति करते थे, न ही वे आत्माभिव्यक्ति की मौलिक प्रवंचना से अपने अहं का काव्य लिखते थे। वह विशिष्ट सम्वेदनशील हो कर भी अपनी रचना को दूसरे की या समूह की रचना बना देने के लिए अपने इसी दायित्व का निर्वाह करने में लगे रहते थे, लेकिन देश के राष्ट्रीय कर्णधारों ने जब शासन का कार्यभार सम्हाला, तब वह इस आन्दोलन से सहम गये। पूँजीवादी प्रेस ने उनका साथ दिया। देश के बुर्जुआ मनोवृत्तिवाले पढ़े-लिखे लोगों ने दल बनाकर इस आन्दोलन को कुचल डालने का, जानकर या अनजानकर, षड्यंत्र रचा। प्रगतिशील कविता को आरोपित कविता घोषित किया गया।

उसे रूसी होने का नारा दिया गया। विरोध में प्रयोगवाद का नया आन्दोलन चलाया गया। कवि की वैयक्तिकता को काव्य में सबकुछ लिखने की छूट दी गयी। कवि की इकाई अहं की इकाई बन गयी और जनता से भाग कर, वह अपने को ही सर्वोपरि मान बैठा। उसका सम्बन्ध न किसी दूसरे से रहा और न किसी दूसरे का सम्बन्ध उससे रहा। वह अपनी अस्मिता को खोजते-खोजते अपने निजत्व में जा पहुँचा। न उसके जीवन का कोई महान् मानवीय उद्देश्य रहा और न वह लोक-जीवन की दिशा बदलने के लिये उत्सुक हुआ। उसका जीवन-दर्शन उसी का गढ़ा हुआ जीवन-दर्शन था। देश और काल

में रहकर भी वह उनसे अछूता बना रहने की साधना सिद्ध करता रहा। कुछ दिन तक प्रयोगवाद का झण्डा लहराता रहा, लेकिन अन्ततोगत्वा जो होना था, वही हुआ और उसका झण्डा ओझल हो गया। हिन्दी-कविता को इस प्रयोगवाद ने सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों से शून्य कर दिया। अब आयी 'नयी कविता'। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और आत्माभिव्यक्ति के समर्थक ये कवि, प्रयोगधर्मी न होकर, केवल अपने ही मनोवेगों और वैयक्तिक निजता को कविता में लिखने लगे। इन्होंने भी अपनी मानसिकता को सार्वजनिक मानसिकता के आयाम नहीं दिये। युगीन जीवन से विचलित होने पर भी ये व्यापक जीवन-दर्शन की खोज पर नहीं चले बल्कि व्यक्ति की परिक्रमा ही करते रहे और अपनी निजता में ही और अपनी अनुभूतियों में ही अपनी मौलिकता रचते रहे। यह प्रयोगवाद से आगे तो गये, लेकिन ये भी बिना किसी ठोस जीवन-दर्शन के खोखले मानववाद के वृत्त में भ्रमण करते रहे और इस बात में खुश होते रहे कि वे व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के लिये जी रहे हैं। इसलिए नयी कविता का कथ्य और शिल्प लोक-जीवन का कथ्य और शिल्प नहीं हो सका। इसलिए नयी कविता भी लोक-जीवन के सत्य को पकड़ने वाले 'संज्ञान' से वंचित रह गयी और उसकी दी हुई मानसिकता कवि के घर में ही, उसी की ढिबरी की तरह, टिमटिमाती और धुआँती रही।

अब देश की राजनीति में फिर परिवर्तन हो रहा है। पता नहीं यह परिवर्तन दक्षिण पथगामी होगा अथवा पहले की तरह का ही कुछ फेर-बदल के साथ होगा। वाम विचारधारावाले लोग अबतक विभाजित रहे हैं, अब वे एकहोने की ओर उन्मुख हुये हैं। यदि ऐसा हो गया तो समाजवादी मानसिकता के पनपने और प्रभावित करने का अवसर मिलेगा। लेकिन दिन दूर है अवरोध बड़े-बड़े हैं। टक्कर तगड़ी है। सरकार और जनता छोटे-मोटे हितों को दे-लेकर चल रही है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक समझदार कवि का सबसे पहला दायित्व यह है कि वह अपनी मानसिकता ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के जीवन-दर्शन से बनाये और देश के राजनीतिक कार्य-कलाप को सूझ-बूझ के साथ समझे और फिर 'संज्ञान' से अनवरत संघर्ष करते हुए वर्त्तमान वस्तुवत्ता के यथार्थ का आकलन करे और तब उन ठोस सत्यों को पकड़े, जो पूरे देश को सही रास्ते पर ले जाने में समर्थ हों। केवल ऊपरी हेर-फेर से थोड़ी-बहुत राहत से, छोटी-मोटी समस्याओं के समाधान से, कुछ होने-हवाने का नहीं है। कवि कह सकते हैं कि कविता और राजनीति एक-दूसरे से भिन्न हैं और उनका मेल-मिलाप कतई सम्भव नहीं है। यह दलील देखने में तो बड़ी अच्छी मालूम होती है, लेकिन इसमें कोई जान नहीं है। अब इस दौर में तो और भी उभरकर, यह बात सबके सामने आ गयी है कि जो राजनीति आजकल शासन चला रही है, वह राजनीति न समाजवादी है, न लोकतंत्रवादी है, न आदर्शवादी है, न यथार्थवादी है। वह है, तो बस यथास्थितिवादी है। इसका दायित्व सबपर है कि वह इस राजनीति की बुनावट बदले और समाजवादी यथार्थवाद की राजनीति के लिए यथाशक्ति संघर्ष और प्रयत्न करे। सब कवि एक-से नहीं होते। सबकी क्षमताएँ और परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होती। कोई इस ओर अपना पूरा योगदान दे

सकता है तो कोई केवल कविता लिखकर अपनी जनता की मानसिकता बदलने में रत रह सकता है। इसलिए इन सभी से प्रगतिशील कविता का आन्दोलन फिर से चल सकता है। अन्य कोई उपाय किसी कवि या कवि-समूह के पास नहीं है, जो जनता की मानसिकता को बदल सके और उसे फिलहाल लोकवादी बना सके।

अपने इस अभियान में और भी कई बातों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। सबसे पहली बात तो यह है कि 'संज्ञान' से प्राप्त हुये सत्य की अभिव्यक्ति करनेवाली कविता तभी कविता होगी, जब वह कलात्मक होगी। कलात्मक होने की पहली शर्त यह है कि वह सत्य, जिसकी अभिव्यक्ति कविता करती है, स्पष्ट और लोक-जीवन को बिम्बित करनेवाला हो, यानी कि वस्तुगत सत्य को उसकी समग्र वस्तुवत्ता के साथ एवं अन्तर्विरोधों के साथ व्यक्त करने वाला हो। अस्पष्टता और दुरूहता कविता की कलात्मकता को नष्ट करने वाले तत्त्व होते हैं।

दूसरी बात यह है कि जिस तथ्य की या सत्य की अभिव्यक्ति की जाये, वह सशक्त बिम्ब-विधान से उद्दीप्त हो, अर्थात् वह केवल सत्य की नंगी पकड़ न हो, वरन् वह आवश्यक वस्तुवत्ता की बुनावट के रूप में उभरकर अभिव्यक्त हुआ हो। अन्यथा पाया हुआ सत्य यदि केवल प्रतीकात्मक शैली में ही व्यक्त हुआ तो वह दुर्बल और क्षीण हो जाता है, और अपने समग्र परिवेश के बिना, धुँधली लालटेन की तरह या मैले दर्पण की तरह, मानसिकता लिये हुये होता है।

तीसरी बात यह है कि यदि 'संज्ञान' से पाया हुआ सामाजिक या राजनीतिक सत्य अखबारी भाषा में या मोहल्ले की चलताऊ भाषा में व्यक्त किया गया तो वह वैसे स्थायित्व की संरचना के रूप में नहीं होगी, जो समय के प्रहार से ढहने से बच सके।

चौथी बात यह है कि जनता की बनी-बनायी मानसिकता तभी टूट सकती है, जब नयी मानसिकता मानवीय जीवन के अन्तर्विरोधों की समस्या का कोई समाधान दे सके। इसके लिए कविता को वे वस्तुवत्तीय तत्त्व व्यक्त करने होंगे, जो आदमी को विरूपित करते रहते हैं।

पाँचवीं बात यह है कि कवि की अनुभूतियाँ दूसरे की अनुभूतियाँ बनें। इसके लिये कविता को परिवेशीय तत्त्वों से निर्मित करना पड़ेगा न कि कल्पना से उसकी रचना करनी होगी।

छठीं बात यह है कि कोई भी कला शाश्वत नहीं है। कविता भी शाश्वत नहीं है। कला भी बदलती है और कविता भी बदलती है। इसलिए इस मोह में नहीं पड़ना चाहिए कि कविता स्वयं में कोई सिद्धि है और वह देश और काल का अतिक्रमण कर सकती है।

सातवीं बात यह है कि कवि को किसी शिल्प विशेष से कोई मोह न हो। सत्य का और शिल्प का द्वन्द्व जब चलता है तभी कथ्य का अपना शिल्प तैयार हो जाता है और वही अर्थ-बोध देने लगता है।

आठवीं बात यह है कि कला भी और कविता की कला भी आदमी की चेतना का बिम्बन करती है, ऐसा न हो कि कवि की आत्मपरकता ही कविता में व्यक्त हो और वस्तुवत्ता के वे तत्त्व उसमें न आये जो उस आत्मपरकता के कारण खो चुके हैं।

नवीं बात यह है कि न कला, कला के लिए है, और न कविता, कविता के लिए है। इसलिए शुद्ध कविता मानवीय मूल्यों से वंचित कविता होती है। शुद्ध कविता आदमी के संज्ञान की कविता नहीं होती।

अन्त में कविता को संश्लिष्ट कविता बनाये जाने की अवधारणा औचित्यपूर्ण लगती है। तभी कविता बोलती है और कवि नहीं बोलता।

इसीलिए संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति कविता हो, तभी वह समाजवादी यथार्थवाद की, परिवर्तनकामी मानसिकता की कविता होगी अन्यथा नहीं–

शुद्ध कला के पारखी
कहते हैं उस पार की
हाथी, घोड़ा, पालकी
जय कन्हैयालाल की।

–रा०वि०शर्मा

❐

आत्मस्वातन्त्र्य : दिशा और दृष्टि

आत्मस्वातन्त्र्य का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति है इसलिए कि वह चेतन है, इसलिए कि वह स्वयं जीना चाहता है—अपने लिए और दूसरों के लिए; इसलिए कि वह परिवेश में रहकर परिवेश को अपने और अन्यों के हित में अनुकूल बनाना चाहता है, इसलिए कि वह परम्परा का प्रगतिशील अंश ले कर पूर्वापर से जुड़कर विकास-क्रम में प्रगति करना चाहता है, इसलिए कि वह देश-विदेश के आचार-विचार को मानवीयता के स्तर पर ले जाकर युद्ध का अवसान और शान्ति की स्थापना करना चाहता है; इसलिए कि वह ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, नृत्य, संगीत, सभ्यता और संस्कृति की नव्यतर और भव्यतर उपलब्धियाँ प्राप्त करना चाहता है और आदमी की संतान होकर आदमी बनना चाहता है।

वह यह सब चाहता है इसीलिए अपनी समग्र शक्तियों से देश-काल के विस्तार में कर्म करता है; कर्म के द्वारा रूप और सौन्दर्य की सत्य मांगलिक सृष्टि करता है और अपने को और अपने सहजातियों को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक तन्त्रों से अनुबन्धित करता है, ताकि एक का आत्मस्वातन्त्र्य दूसरों के आत्मस्वातन्त्र्य की अवहेलना कर सकने में अक्षम रहे, और प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी जीवन को अपनी तरह से जी सके और ऐसे जीने में जब दूसरों के जीवन से जुड़े तो ऐसे समन्वय से जुड़े कि वह भी जिये और दूसरे भी जियें; और अपने और दूसरे के हित में अपना आत्मस्वातन्त्र्य, स्वरूप और स्वभाव में, थोड़ा बदले और ऐसा बदले कि दूसरों को भी अपना आत्मस्वातन्त्र्य स्वरूप और स्वभाव में, बदलना पड़े, और तब जाकर वह और दूसरे सहअस्तित्व में सहयोग से रह सकें और तमाम मानवीय गुणों से चराचर को वशीभूत कर सकें।

इससे विपरीत कोई अन्य आत्मस्वातन्त्र्य नहीं है और कहीं अगर है तो वह आदमी के रूप में जन्मे व्यक्ति का आत्मस्वातन्त्र्य नहीं है, क्योंकि उस पैदा हुए व्यक्ति को आदमियों के बीच जीना-मरना है, और मरने-जीने में आदमी की तरह कर्म करना है; और कर्म से सत्य, शिव और सुन्दर को साकार करना है; न कि आदमियों से कट कर किसी गुहा या गह्वर में जा कर मानवेतर हो जाना है।

आत्मस्वातन्त्र्य इसलिए नहीं कि आदमी साँप बन जाए, या भालू बन जाए, या कछुआ बन जाए, अथवा कुछ और बन जाए कि वह उनकी तरह जीवन बिताये और चेतना को त्याग आवेश के वशीभूत होकर अमानवीय चित्त और चरित्र को उरेहने लगे।

आत्मस्वातन्त्र्य का रूप भी युग-युग में बदलता रहा है, और वह आगे भी बदलेगा। किसी एक ही स्वरूप का या गुण-धर्म का वह सदैव-सदैव नहीं रहता। उसको भी बदलना पड़ता है। वह भी देश-काल के विस्तार में एक बिन्दु से दूसरे बिन्दुओं तक यात्रा करता है और यात्रा करते-करते अपनी गति और अपने गुमान को लक्ष्य के अनुसार शासित करता रहता है। उद्दाम उच्छृंखलता का अधिकार उसे नहीं प्राप्त है।

आदमी के इतिहास की रूपरेखा उसके व्यक्तित्व के निर्माण की रूपरेखा प्रस्तुत करती है और इस प्रस्तुतीकरण से उसके उन तत्त्वों का परिचय मिलता है, जो उसको सचमुच दिशा और दृष्टि देते रहते हैं। आत्मस्वातन्त्र्य भी उन्हीं तत्त्वों में से एक तत्त्व है। इस तत्त्व की उपलब्धि से आदमी आदमी हुआ है, विचारवान् हुआ है, विवेकी हुआ है, दूसरों को अपना समझने का अधिकारी हुआ है और जय-विजय करता हुआ अपने और दूसरों के लिए जीना सीख सका है। यदि वह नयी-नयी परिस्थितियों में नये-नये चेतन कर्म के प्रयोग न करता और पुरातन के अंधकूप में सर्वाङ्ग पड़ा रहता और केवल आत्मस्वातन्त्र्य के नाम पर सबसे विमुख और उदासीन हो जाता तो कहीं कुछ न होता; मगर आदमी ने ऐसे आत्मस्वातन्त्र्य को स्वीकार नहीं किया। अघोरपंथियों ने भले ही ऐसे आत्मस्वातन्त्र्य को माना हो और वे उसपर निसार हुए हों; किन्तु किन्हीं औरों ने उनका अनुकरण नहीं किया। अध्यात्मवादियों ने भी ब्रह्म में लीन होकर मुक्ति की कामना की है; वे भी आत्मस्वातन्त्र्य को संकुचित दृष्टि से अपनाये रहे हैं। वैसी संकुचित दृष्टि से कोई परोपकार कभी नहीं हुआ। वही आत्मस्वातन्त्र्य कर्मी और कृती बना सका है जो बहिर्जगत् से चेतन द्वन्द्व करते आदमी को उपलब्ध हुआ है। इसीलिए अब आज का आदमी दैनिक जीवन में सबके साथ जीकर—सबके साथ संघर्ष करने का और सबकी समस्याओं का हल खोजने का समर्थक हो गया है और इसी दिशा में उसका आत्मस्वातन्त्र्य सबके आत्मस्वातन्त्र्य से जुड़ गया है, और तभी आत्मस्वातन्त्र्य का स्वभाव सार्वजनिक हो गया है।

भारतीय संविधान में आत्मस्वातन्त्र्य की व्यवस्था है। कोई भी व्यक्ति अपने विचार प्रकट कर सकता है, दूसरे विचारों से टक्कर ले सकता है, अपना मत प्रचारित कर सकता है और दूसरों को अपने मत का बना सकता है। ऐसी व्यवस्था से एक के विचार दूसरे के विरोधी विचारों से टकराते हैं और जनता इस टकराहट के दौरान शिक्षित होती है, हितकारी विचार को प्रश्रय देती है और अहितकारी विचार को त्याग देती है। इस पर भी यदि कोई चाहे तो कटी पतंग की तरह अकेले कहीं पड़ा रहे; कोई कुछ न कहेगा। हाँ, यदि वह अपने अनधिकारी और अपरिपक्व विचार लेकर समाज में कोई उल्टा काम करना चाहे—सताना चाहे—गाली देना चाहे—जमीन-जायदाद हड़पना चाहे, तो उसे छूट न मिलेगी। यदि उसे समाज की व्यवस्था बदलनी है और अपने विचारों के अनुरूप समाज और देश को बदलना है, तो उसे आन्दोलन करना होगा और कानूनी ढंग से सिद्धि पानी होगी।

बहुत से ऐसे भी विचारक हुए हैं, जिन्होंने क्रान्तियाँ करायी हैं और स्वयं भी सक्रिय रहकर क्रान्तियों को सफल बनाया है। वे महापुरुष उन महापुरुषों से भिन्न रहे हैं, जो केवल आत्मा में लीन होकर परमानन्द पाना चाहते रहे हैं। विचार, आत्मस्वातन्त्र्य के बल पर परिस्थितियों के संघर्ष से उत्पन्न होते हैं और उसी के बलपर समस्याओं के समाधान खोजकर कर्मी को काम करने की, क्रान्ति करने की दृढ़ता और क्षमता प्रदान करते हैं, और तब नये परिवर्तन से नया कल्याण संभव होता है।

इसलिए आत्मस्वातन्त्र्य आवश्यक है, किन्तु वह समाजपरक हो–निजी अमूर्त आनन्द की उपलब्धि के लिए न हो–तभी वह व्यवस्था को सुचारु रूप में चला सकता है और व्यवस्था के सड़ जाने पर उखाड़ फेंकने के लिए विवश कर सकता है।

❐

समाजवादी समाज में लेखक का दायित्व

समाजवाद में संलग्न समाज की अपनी विशेष भूमिका होती है। एक ओर तो वह प्राचीन काल से चली आ रही परम्परागत मानव-मूल्यों की जकड़बंदी को मानव के हित में तोड़ता है, तो दूसरी ओर उसी के हित में नये मानव-मूल्यों की स्थापना के लिए स्वस्थ योजनाबद्ध कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। दोनों ही दशाओं में वह मानवीयता को इस प्रकार विकसित होने का अवसर प्रदान करता है कि उसका अपना स्वरूप शोषण-विहीन हो और शोषण-विहीन होकर ही वह सही अर्थों में जनतांत्रिक हो। इसलिए ऐसे समाज की प्रत्येक इकाई को अपनी समस्त क्षमताओं से सक्रिय होना पड़ता है और अनवरत रूप से समाजवाद की पूरी सम्भावनाओं को कार्यरूप में परिणत करना पड़ता है।

अतीत में जब समाजवाद का नामोनिशान तक न था तब, उस समय सामाजिक इकाइयों का दायित्व भी कुछ और था। उस दायित्व के भिन्न-भिन्न स्वरूप और संकल्प थे। आज अब इस वर्त्तमान युग में जब संसार के एक बड़े भू-भाग में—कई देशों में—समाजवाद की सफल स्थापना हो चुकी है और जब वहाँ शोषणविहीन मानवता चरम उत्कर्ष की उपलब्धियाँ प्राप्त करने लगी है, तब वहाँ की सामाजिक इकाइयों का यह दायित्व हो गया है कि वह अपनी समस्त क्षमताओं से समाजवाद को निरूपित करती रहें—उसको महान् मानवीय गुणों से सम्पन्न करती रहें—उसकी जनतांत्रिक मूर्ति बनाती रहें और अन्ततोगत्वा युद्ध को निष्कासित करके सार्वभौमिक शांति से विश्व का कल्याण करती रहें।

समाज की अन्य इकाइयों की तरह लेखक भी समाज की एक इकाई होता है। निश्चय ही वह सविशेष संवेदनशील प्राणी होता है। उसके पास उसकी अर्जित की हुई अपनी भाषा भी होती है। वह अपनी प्रतिभा को, अपने बन गये सामाजिक व्यक्तित्व से, बाँध चुका होता है। वह अपनी साहित्यिक कला को एक निश्चित दिशा और दृष्टि दे चुका होता है। समाज को वह अपना साहित्य देता है। समाज उसके साहित्य को पढ़ता है। उसे पढ़-पढ़कर अन्य सामाजिक इकाइयों की समाजवादी चेतना का स्वरूप बनता है। इसलिए अब आज यह कहना सर्वथा न्यायसंगत और सत्य होगा कि समाजवादी समाज में लेखक का दायित्व उतना ही और वैसा ही है, जितना और जैसा उस समाज की अन्य इकाइयों का है। कोई भी इकाई अपने-आप में पूर्ण इकाई नहीं है। सभी इकाइयाँ सभी से सम्बद्ध हैं। एक इकाई का काम दूसरी इकाई के बिना नहीं चल पाता। सभी इकाइयाँ समाजवादी सूत्र में बँधी हैं। लेखक को ऐसे समाज में अपनी लेखनी से अन्य इकाइयों की चेतना को समाजवादी बनाना पड़ता है। यह नहीं हो सकता कि लेखक को

अकेले जीने, मरने और लिखने के लिए छोड़ दिया जाये कि जो कुछ वह लिखे अजूबा हो, मात्र उसी का हो, केवल उसका मानसिक ग्राफ हो, जिसे न कोई समझे, न बूझे और वह निजी वैयक्तिक आत्मपरकता की चरम उपलब्धि मात्र हो।

समाजवादी समाज में लेखक का समाजवाद से प्रतिबद्ध होना परम आवश्यक है। प्रतिबद्धता ही लेखक की चेतना को परम्परा की रूढ़ियों से अलगाती है और लेखक की वैचारिक अभिव्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता की अहंवादी प्रवृत्तियों को खंडित करती है। तभी लेखक जन-जीवन से जुड़ता है और अपने को और जनता को एक समाजवादी समाज का अंग मानता है और जो कुछ लिखता है जनतांत्रिक हित में लिखता है।

लेकिन देश-विदेश में समाजवादी लेखकों द्वारा भी इस प्रतिबद्धता को ले कर बड़ा शोर मचाया गया है। शोर मचाने में वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अपहरण की दुहाई दी गयी है। यह भी कहा गया है कि प्रतिबद्धता से साहित्यिकता और कलात्मकता का अवमूल्यन होता है, इसलिए प्रतिबद्ध साहित्यकार सच्चा साहित्यकार नहीं है और उनकी प्रतिबद्ध रचना शुद्ध साहित्य नहीं है। लेनिन ने इस अवधारणा का खंडन किया है और कहा है कि प्रतिबद्ध लेखन ही समाजवादी लेखन होता है।

पूँजीवादी देशों में लेखक की वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का ढोल तो पीटा जाता है, पर वास्तव में वहाँ यह ढोल इसलिए पीटा जाता है कि निहित स्वार्थों पर आँच न आये और जो लूट जारी है वह जारी रहे और जो शोषण और दोहन हो रहा है वह बराबर उसी तरह होता रहे और बेचारा लेखक अपनी स्वतंत्रता के सिद्धान्त की ओस चाटता रहे और ऐसे मरे कि मरने के बाद उसका नाम तक न रह जाये।

सोवियत रूस ने अभी हाल में ही सौल्झेनित्सिन को अपने यहाँ से निकाल दिया है, क्योंकि वह अपने देश के समाजवादी समाज की उपलब्धियों को नगण्य मानकर उन्हें नकारता था और उन मानव-प्रवृत्तियों को पोषित करता था, जो समाजवादी मानव-मूल्यों की स्थापनाओं को जड़ से काटती थीं। असमाजवादी देशों में इस घटना को लेकर वहाँ के प्रेस ने रूस के विरुद्ध खूब कीचड़ उछाला। हमारे देश भारत में भी कुछेक बुद्धिजीवियों ने इस बात को लेकर रूस की निंदा की। निंदा के इन शब्दों में कोई सार नहीं था। इस सबका प्रतिवाद वहाँ के समाजवादी लेखकों ने किया।

बात बहुत साफ है। लेखक न तो देवता है—न दानव। वह आदमी है, आदमियों के बीच रहता है, आदमियों की अर्जित की हुई भाषा को इस्तेमाल करता है, और भाषा के द्वारा ही अपनी आत्मपरकता को दूसरों तक पहुँचाता है, ताकि उसकी अभिव्यक्ति से दूसरों की आत्मपरकता प्रभावित हो और मानवीय चेतना का जनतांत्रिक रूप निखरता और सँवरता चले।

समाजवादी देश के लेखक इसी बुनियादी समझ से प्रेरित होते हैं और अपना लेखन-कार्य करते हैं। इसी समझ को अपनाये रहकर वह वैयक्तिक और सामाजिक संकटों से निबटते हैं। इसी समझ से वह आत्मपरकता और वस्तुपरकता के द्वन्द्व का

समाहार करते हैं। इस समाहार करने में परम्परागत मान्यताएँ चकनाचूर होती हैं—पुराने मानसिक सूत्र टूटते हैं-असमर्थ हो गयी शुद्ध साहित्यिकता का अन्त होता है—विशुद्ध कलात्मकता के नाम पर चल रहा चरखा टूटता है। दूसरी ओर इसी समझ से वह, नये विकसित हो रहे समाजवादी आदमियों के नये मानव-मूल्यों का विवरण और चित्रण सक्षम कलात्मकता से प्रस्तुत करते हैं। उनके उपन्यासों में ऐसे चरित्रों को चित्रित किया जाता है, जो जनता का जीवन जीते हुए अपने देश के समाजवादी परिवेश से जुड़े होते हैं और अपनी आत्मपरकता को समाजवादी आत्मपरकता में बदल चुके होते हैं। ऐसे चरित्र न अहं की कटी हुई इकाई होते हैं—न रहस्य में खोये हुए व्यक्ति होते हैं। वह किसी भी प्रकार का शोषण बरदाश्त नहीं करते। वह प्रकृति के प्रेमी होते हैं। प्रकृति की सुन्दरता की सराहना करते हैं। प्रकृति की समस्त शक्तियों का उपयोग मानव के हित में करते हैं। ऐसा लगता है कि वह साहित्य मानव-जाति के स्वास्थ्य और सौन्दर्य का महान वैज्ञानिक साहित्य है। गोर्की और माइकोवस्की की सूझ-बूझ का साहित्य अब और आगे बढ़ रहा है।

अभी दो ही दिन हुए मैं मास्को, लेनिनग्राद, एरीवान और दोशाम्बे की यात्रा से लौटा हूँ। मैने वहाँ के साहित्यकारों से बातें की हैं। उनके दृष्टिकोण को मैंने समझने का प्रयास किया है। उनकी रुचियों को मैंने जाना है। उनसब की बातों से और पहले से पढ़े हुए उनके साहित्य से मैंने यही समझा है कि समाजवादी देश के लेखकों का दायित्व जनता के प्रति है—समाजवाद के प्रति है—जनतंत्र की चरम उपलब्धियों के प्रति है—युद्ध और अशांति के प्रतिरोध में है—महान् मानवीय गुणों के उन्नयन में है।

❐

साहित्यकार का सामाजिक दायित्व

दायित्व के होने न होने की परवाह उन्हें ही नहीं होती, जिन्हें अपने होने न होने की परवाह नहीं होती। वे जो ऐसे हैं दूसरों जैसे नहीं हैं। न वे अपने हैं न दूसरों के हैं। आदमी हैं तो क्या हुआ, आदमी नहीं हैं तो क्या हुआ इसलिए वे आदमी के होने-न-होने का जीवन औरों के साथ नहीं जीते। इसलिए वे आदमी के होने न होने के जीवन के दायित्व से अनवगत बने रहते हैं और इसी अपनी अनवगतता में आदमियत को नकारते रहते हैं। उनका यह नकारना नंगे आदमी का नकारना होता है। इसलिए दायित्व की समस्या आदमी के नंगे होने न होने की आदिम समस्या से मौलिक रूप से जुड़ी हुई है।

आदमी तब नंगा होता है, जब या तो वह पागल होकर कपड़े उतार फेंकता है या बिना पागल हुए, वस्तुवत्तीय यथार्थ के द्वन्द्वमय संसार को असार और कृत्रिम समझकर आदमी के आदिम वनमानुषी स्वरूप को शाश्वत और सत्य समझने लगता है।

पागल होकर नंगा होना अच्छा नहीं है।

आदिम वनमानुष होकर नंगा होना अच्छा नहीं है।

पागल होकर नंगा होने में आदमी आदमी की चेतना से काम नहीं लेता।

आदिम वनमानुष होकर नंगा होने में आदमी आदमी की चेतना से जानबूझ कर काम नहीं लेता। पागल आदमी आदमी की चेतना से वंचित रहता है। आदिम वनमानुषी प्रवृत्ति का आदमी आदमी की चेतना से वंचित नहीं–विरक्त रहता है इसलिए वह बिना पागल हुए पागल के समान जीना चाहता है, दूसरों के लिए प्रश्न या पहेली बना और अपने लिए केवल आदिम प्रवृत्तियों का पुतला बना।

प्रश्न उठता है कि आदमी आदिम प्रवृत्तियों का पुतला बनकर जीना क्यों चाहता है और अगर उसके जीने को जीना न कहें तो क्या कहें? क्या वह इसलिए जिये, क्योंकि उसे भूख लगती है–क्योंकि उसे काम सताता है-क्योंकि उसे सहजाति की युवती से सम्भोग करना है–क्योंकि उसे किसी पशु(मादा) से रति की तृप्ति करनी है?

निश्चय ही इन प्रश्नों का उत्तर कोई 'हाँ' में नहीं दे सकता।

इनका 'हाँ' में उत्तर देना आदमी की सभ्यता और संस्कृति के विकास-क्रम से इनकार है, ज्ञान, विज्ञान और साहित्य की समस्त सम्पदा से इनकार करना है। आदमी के अबतक के तमाम ऐतिहासिक क्रिया-कलाप पर अंधकार का परदा डालना है। आदमी को पशु के जैविक जीवन के धरातल पर ले जाकर पशु बनाकर छोड़ देने के समान है।

इसलिए आज की दुनिया की समस्याओं के समाधान के लिए यह कोई समाधान नहीं है कि आदमी नंगा हो जाये–आदिम हो जाये–पशु हो जाये और अपने अब तक के सम्पूर्ण विकास को जलाकर राख कर दे और फिर न तनाव अनुभव करे–न संकट में पड़े–न शान्ति के लिए संघर्ष करे–न एक-दूसरे से जुड़े–न एक-दूसरे के लिए जिये–न राजनीति रचे–करे–न चंद्रयात्रा करे।

इसलिए आज की दुनिया निश्चय ही गहन-गम्भीर दायित्वों की दुनिया है। इसी दायित्वों की दुनिया में आदमी को आदमी की तरह सोच-विचार कर, एक-दूसरे के दायित्वों के प्रति सचेत रहते हुए, दिन-प्रतिदिन का और बरसों और दशकों का जीवन जीना है। ऐसे जीवन जीने से किसी को छुटकारा नहीं मिल सकता। जो छुटकारा चाहेगा, और से छिटककर स्वयं में समा जायेगा, वह अपनी एकमात्र जैविक इकाई को ही जियेगा। ऐसे जीने वाले का कोई अधिकार न होगा कि वह दूसरे का उपजाया अन्न खाये–दूसरे के बनाये घर में रहे–बीमार पड़े तो दूसरे से सेवा या दवा चाहे–मरे तो कोई उसे नदी में फेंके या आग में जला दे।

दायित्व में आदमी के आदमी होने की–सभ्य और संस्कृत होने की–ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में प्रकृति और मनुष्य के रहस्यों को उद्‌घाटित करके अग्रसर होने की–क्षमता निहित है। इसी क्षमता से आदमी ने अपना इतिहास गढ़ा है और इसी से वह अपना वर्त्तमान गढ़ता है और इसी से वह अपना भविष्य गढ़ेगा। लेकिन जैसे-जैसे आदमी-आदमी का दायित्व दुगुना, तिगुना, चौगुना और पंचगुना होता जाता है, वैसे-वैसे, उसी के साथ-साथ उसका अधिकार-क्षेत्र भी दुगुना, तिगुना, चौगुना और पचगुना होता जाता है।

दायित्व और अधिकार साथ-साथ चलते और पलते हैं।

जब दायित्व अधिकार की उपेक्षा करता है, तब अधिकार भी दायित्व की उपेक्षा करने लगता है। व्यक्ति-व्यक्ति में इस द्वन्द्व की सम्भावना सदैव बनी रहती है। व्यक्ति और समाज के बीच भी यही द्वन्द्व होता रहता है। व्यक्ति, समाज और देश के बीच भी इसीलिए राजनीतिक द्वन्द्व प्रकट होता रहता है। ऐसे ही द्वन्द्वों की स्थितियों में पड़कर हरेक संघर्ष करता है–संघर्ष से जीवन को दृष्टि और दिशा देता है–जर्जर रूढ़ियों को तोड़ता है–भाववादी विचारों के मुखौटे उतारता है–आदमी-आदमी के लिए पथ प्रशस्त करता है–युद्धों को अवरुद्ध करता है–शान्ति की अवतारण करता है। आदमी जो कुछ कहता, सुनता और गुनता-करता है वह एक व्यक्ति के लिए नहीं हरेक आदमी की समानता के लिए,हरेक के न्याय पाने के लिए, हरेक के अधिकारों की रक्षा के लिए कहता, सुनता और गुनता-करता है।

कोई भी दायित्व, कोई भी अधिकार प्रकृति-प्रदत्त नहीं है–न मौलिक है–न शाश्वत है–न अक्षुण्ण है–न दैविक या पारलौकिक है। आदमी के दायित्व–आदमी के अधिकार–सभी आदमी की अपनी उपलब्धियाँ हैं, जो उसने प्रकृति और परिवेश में कर्म

कर-कर के उनको अपनी सेवा में लगा-लगाकर ही अबतक पायी है। उसने उन्हें उसी रूप में जब-जब सहज रखने का प्रयास किया है, तब-तब उसने आदमी को अपमानित किया है और उससे किसी व्यक्ति या दल विशेष के हित की रक्षा की है।

शोषित और अपमानित जनता के जागरण को, रूस की अक्टूबर-क्रान्ति के पूर्व, तरह-तरह से विरूपित और लांछित किया गया है। धर्म ने भी तमाम प्रतिगामी करनी की है। राजा और रईस तो करते ही चले आये हैं। भूस्वामी या सामंत तो अपने आतंक के लिए जग-जाहिर हैं ही। दार्शनिकों ने भी आसमानी समाधानों से जन-जन की विचार-धारा को उल्टे बहाया है। मेहनत करनेवालों ने जब-जब सिर उठाया है, उन्हें कुचला गया है। हालाँकि उनकी संख्या दूसरों से कई गुना अधिक है और वह भी साफ-सुथरे जीवन के वैसे ही अधिकारी हैं जैसे उनको कुचलने वाले। लेकिन इस सब के बावजूद भी संसार की हालत नहीं सुधरी। दो महायुद्ध हुए। वियतनाम पर अमरीका की बम-वर्षा हुई—वह ध्वस्त-पर-ध्वस्त होता गया। लेकिन अजेय जनता ने जय हासिल की और अमेरिका का मुँह काला हुआ।

मार्क्स ने आकर आर्थिक शोषण की बुनियादी समस्याओं को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा और उनको विचार की दार्शनिक पृष्ठिभूमि देकर बल और विवेक से उद्घाटित किया। लेनिन ने मजूरों को प्रतिबद्धता का सिद्धान्त दिया और उनके द्वारा ही संचालित किये जाने से राजशक्ति की समस्याओं के समाधान की सम्भावना प्रस्तुत हुई। उन्होंने नकली मानवतावाद की बखिया उधेड़ी। भाववादी आदर्शों को अवैज्ञानिक प्रभाषित किया। कथनी और करनी में उन्होंने ही ताल-मेल बैठाया। श्रम के शासन में ही निर्माण की उत्तरोत्तर वृद्धि हो सकती है, इस बात को भी उन्होंने बार-बार बल-विशेष के साथ कहा। उनका चिन्तन जीवन से उद्भूत, उससे जुड़ा और उसी के विकास से सम्बद्ध था। लेनिन क्रान्ति के प्रबल समर्थक थे—कोरी अराजकता के नहीं। वह क्रांति इसलिए चाहते थे कि क्रांति के बाद विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए—शोषण से मुक्ति के लिए—नव-निर्माण के लिए—देश-देश में भाई चारे की भावना के लिए—ज्ञान-विज्ञान, कला और संस्कृति के लिए—समाजवाद के माध्यम से साम्यवाद के लिए—युद्ध के निष्कासन के लिए—संसार की सरकारें और वहाँ की जनता एकजुट हों और करनी को कथनी के साथ जनहिताय में लगाया जाये।

साहित्यकार भी सामाजिक प्राणी है। लेकिन कृतिकार है, इसलिए सविशेष है। उसका कर्म-क्षेत्र साहित्य के सृजन का क्षेत्र है। उस सृजन में निस्संदेह वह अपनी समस्त शक्तियों से क्रियाशील होता है। इसलिए वह वैसा काम नहीं कर सकता, जोकि एक बढ़ई करता है या कचहरी का एक क्लर्क करता है या एक तकनीकी आदमी करता है। वह यह भी नहीं कर सकता कि बन्दर पाले और नचाये। निश्चय ही यदि वह सृजन को मनोयोग से करता है तो वह अन्य कामों के लिए समय नहीं दे सकता। इसलिए देश की साधारण स्थिति में वह वही करे जो उसे करना है। किन्तु देश पर आपत्ति आने पर वह भी उस आपत्ति से नहीं बच सकता, इसलिए उसे भी उनसब लोगों

के साथ, उस आयी हुई आपत्ति से जूझना होगा। तब वह सबसे कट कर साहित्य के सृजन में पूरा समय नहीं खपा सकता। उसे सिपाही की तरह लड़ना होगा। जल्दी में उसे अपनी रचनाएँ लिखनी पड़ेंगी और एकसाथ दो काम करने पड़ेंगे। भले ही वह जल्दी की रची हुई रचना उत्तम न हो। वह उसे बाद को कभी ठीक कर सकता है। साधारण स्थिति में भी उसे समाजवादी दायित्व की कृति देते रहना होगा।

इसके अलावा यदि देश की आन्तरिक स्थिति बिगड़े और सरकार उसे अपने राजतन्त्र से सुधार न पाये तो उस बिगड़ी के बनाने में भी साहित्यकार को अपना सहयोग देना चाहिए। यदि उसके सृजन मात्र से दूसरे लोग प्रभावित हो सकें और उसको आन्दोलनों में सम्मिलित होने से मुक्त किये रह सकें, तब तो बात और है अन्यथा उसे उन आन्दोलनों में भी लोगों का साथ देना चाहिए।

किन्तु साहित्यकार को तमाम तरह के आन्दोलनों से मतलब न रखना होगा। उसे तो समाजवादी जीवन-दर्शन के बल-बूते पर समाजवादी शक्तियों को ही सक्रिय सहयोग देना होगा। वह यह नहीं कर सकता कि जनसंघी कार्यक्रमों के लिए जिये और मरे। उसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रत्येक आन्दोलन को जाँचना-परखना पड़ेगा कि वह प्रतिगामी शक्तियों को मजबूत तो नहीं करता। इसलिए साहित्यकार को सरकार के समाजवादी कार्यक्रम में शामिल होने का पूरा हक है। मगर सरकार समाजवादी हो तभी,अन्यथा नहीं। साहित्यकार को यथास्थिति को तोड़ना है। वह इस काम को कलम से तो करेगा ही। जूलूस में—सभा में—शामिल होकर भी—मत व्यक्त करके भी सही को प्रस्तुत करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। वह किराये पर लिया गया या खरीदा हुआ आदमी नहीं है कि अपने और गलत तत्त्वों के स्वार्थ के लिए गलत जनमत तैयार करे और सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में काम करे। वैसा करना गलत होगा।

अब वह जमाना नहीं रहा कि शुद्ध साहित्य के सृजन में रत होने के लिए कोई साहित्यकार जनता से और देश से अजनबी बन जाये और विचित्र और अद्‌भुत कृति की तलाश में कुआँ और खदान खोदता रहे।

शुद्ध साहित्य की परिभाषा भी वही नहीं रह सकती जो कभी किसी जमाने में थी। अब कवि और साहित्यकार के दायित्व और अधिकार दोनों बढ़ गये हैं। वह स्वयं में बन्द अहं की इकाई बनकर नहीं रह सकता। उसे समाजवादी चेतना के लिए पहले उत्कंठित होना पड़ेगा। फिर उस चेतना से चारों ओर के जीवन को समझना पड़ेगा। फिर समस्त समस्याओं के मूल में जाकर उनका समाजवादी समाधान खोजना पड़ेगा। फिर उस समाधान के कार्यक्रम के प्रति संवेदनशील होना पड़ेगा। तब उसे अपनी समग्र चेतन और अवचेतन शक्तियों से उस संवेदन को भाषा-बद्ध करना पड़ेगा। इसके अलावा और कोई दूसरा रास्ता अब इस युग के इस दौर में, साहित्यकार के लिए है नहीं। वैज्ञानिक भी वही है। और इसी प्रकार से अब का साहित्य भी साहित्य होगा। ऐसे साहित्य को साहित्य न कहना—आरोपित या आदेशित साहित्य कहना गलत तो होगा ही, भ्रामक भी होगा। समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध होना पड़ेगा और प्रतिबद्ध होकर लिखना पड़ेगा और

ऐसे लिखे को साहित्य में स्थान देना पड़ेगा। और वह इसलिए कि समाजवादी राजनीति के कार्यक्रम के क्रियान्वयन को सरकार अभी तक जी-जान से सब क्षेत्रों में प्राथमिकता नहीं दे पा रही है और वह उपेक्षित पड़ा रह जाता है। यह न्यायसंगत न होगा कि साहित्यकार समाजवादी चेतना से विमुख हो जाये और विसंगतियों को देख कर जनता और जीवन से कटकर अपने भीतर सिकुड़कर बैठ जाये। साहित्यकार का यह दायित्व है कि वह जीवन जिये तो जनता के साथ दायित्व निबाहते हुए जिये और साहित्य का सृजन करे तो जनता की चेतना को संवेदनशील बनाये रखने के लिए सम्प्रेषणीय कथ्य और शिल्प से सँवार कर उसे प्रस्तुत करे। जो साहित्यकार इसके विपरीत साहित्य-सृजन का अन्य अर्थ लगाते हैं, वह साहित्य को गूढ़ता की गाँठ बनाते हैं। वह गाँठ चेतना का फूल कभी नहीं बन सकती। वह किसी दूसरे के लिए नहीं हो सकती।

यह कहना कि साहित्यकार अपने सृजन के लिए पूर्णतया स्वतंत्र है—वह चाहे जिस दिशा में भटके—चाहे जैसा लिखे—असत्य है। सृजन के समय भले ही वह अकेला रहकर रचना रचने में लीन रहे, भले ही वह अपनी समग्र शक्तियों को अपनी रचनाधर्मिता में केन्द्रीभूत किये रहे, लेकिन तब भी उसे समाज से कटा हुआ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब भी वह उस समय वस्तुवत्तीय अवगतता को अपनी आत्मपरकता में व्याप्त किये हुए दोनों की संश्लिष्ट इकाई बनाने में खोया रहता है। इस उसके खोयेपन से उसकी स्वतंत्रता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, न वह बुझा कोयला होता है जैसा किसी ने कहा है। न वह स्थगित उन्मेष की स्थिति में रहता है। सृजन के समय साहित्यकार वस्तुवत्ता और आत्मपरकता का मिला-जुला चेतन और अवचेतन प्राणी होता है, जो दोनों के मेल-जोल की सामग्री देख-देखकर पहले तो ठिठका और ठगा रहता है, लेकिन तदुपरांत अपनी अनुभूत शक्तियों से संचालित होकर अपनी सृजन-क्षमता पा लेता है और उस क्षमता से दोनों की एक भाषाई इकाई बना देता है। यदि वह जीवन की भाषा लिखने का अभ्यासी रहा है तो वह उसी भाषा को और अधिक संवेदनशीलता दे देता है और अर्जित किये हुए शिल्प को नये सँवार से सज्जित कर देता है। इसलिए समाजवादी चेतना के समर्थक साहित्यकार से यह कहकर कि वह साहित्यकार नहीं है, उसकी रचनाओं को कूड़े में नहीं फेंका जा सकता। वह मानव-चेतना का सजग चितेरा होता है। उसकी कृतियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। वह मानवीय चेतना की संश्लिष्ट और संपुष्ट संवेदनशील रचनाएँ देता रहता है। वह अपने दायित्वबोध को दूसरों के दायित्वों और अधिकारों से जोड़े हुए सम्बद्धता से कृतित्व करता रहता है। उसके कृतित्व का निश्चय ही वह स्वरूप न होगा जो एक असंबद्ध हुए साहित्यकार की कृति का स्वरूप होगा।

साहित्य की वृद्धि में भी दायित्वों और अधिकारों की चेतन और अवचेतन बुनावट होती है। यह तो उन शोषकों की दार्शनिकता का प्रतिपादन होगा कि साहित्य में केवल साहित्य रहे, मानवीय दायित्वों और अधिकारों की बुनावट न रहे। ऐसा प्रतिपादन किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं हो सकता।

साहित्य उतना ही साहित्यकार के लिए है, जितना दूसरों के लिए।

साहित्य मानवीय चेतना के विकास को बिम्बित-प्रतिबिम्बित करता है। विकास के इस क्रम को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता किसी आधार पर, न किसी सिद्धान्त के बल पर, न शुद्ध साहित्य के नाम पर। न साहित्य शाश्वत है—कि उसकी वही-वही दिशा रहे और उसका वही-वही निरूपण हो।

साहित्य व्यक्ति के कृतिकार की इकाई की देन होता है। वह इकाई भी निरन्तर एकरूप शाश्वत इकाई नहीं होती। वह इकाई भी परिवेश से—युगबोध से—आदमी के क्रिया-कलाप से—सम्बद्ध और संश्लिष्ट होती है और नये-नये चेतन और अवचेतन सूक्ष्म और ठोस संवेदनों से बनती-सँवरती रहती है।

समाजवादी चेतना से प्रतिबद्ध होकर भी श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हुआ है और अब भी हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। समाजवाद मानवीय चेतना को अपने दर्शन से दृष्टि देता है—दिशा देता है। वह उस चेतना की शक्तियों का हरण अथवा अपहरण नहीं करता। न ही वह उसका शोषण-दोहन करता है। इसलिए समाजवाद से साहित्यकार को खतरा नहीं हो सकता। समाजवादी देशों में जो अंकुश कभी-कभी साहित्यकारों पर लगाया जाता है, वह वहाँ की परिवेशगत आवश्यकता अथवा वहाँ की राजनीति के कार्यक्रमों से लगाया जाता है। वह अंकुश लगाने का काम गलत भी हो सकता है, सही भी हो सकता है। ऐसी सम्भावना तो सदैव बनी रहेगी। इस सम्भावना के आधार पर समाजवादी चेतना से ही इनकार कर जाना श्रेयस्कर नहीं हो सकता। व्यक्ति और राजनीति का द्वन्द्व तो कभी समाप्त होने का नहीं। द्वन्द्व से कतराकर अहं की कन्दरा में घुस जाने से काम नहीं चल सकता। द्वन्द्व में संघर्ष करने से साहित्यकार और उसका सृजन नये आयाम पाते हैं। उनकी क्षमता व्यापक होती है। उनकी आत्मपरकता अधिक सम्प्रेषणीय होती है—अधिक संवेदनशील होती है—अधिक सम्प्रेषणीय भाषा का आविष्कार करती है। उस साहित्यकार की कृति देश-काल की वस्तुवत्ता का सही मानवीय आख्यान प्रस्तुत करती है।

एक बात और, साहित्य-जीवी और साहित्य-भोगी होना साहित्यकार के लिए जनता का सदस्य न होने का साक्ष्य नहीं है कि वह जनता से अलग किसी और देश-काल में जिये और अपने लिए भी और औरों के लिए भी गैर बना रहे। साहित्य सम्बद्धता स्थापित करता है। यथास्थिति को जनहिताय में बदले परिप्रेक्ष्य से प्रस्तुत करता है। वह चल है, अचल नहीं।

❐

सही बयानी और सम्बद्धता

बड़े दम-खम के साथ यह बीसियों साल से प्रचारित होता चला आया है कि सम्बद्ध साहित्यकार अपनी मानवीय मौलिक प्रतिभा का साहित्यकार नहीं होता। उसका कृतित्व बाह्यारोपित कृतित्व होता है। इसलिए उसका कृतित्व मानवतावाद की महान् परम्पराओं का कृतित्व नहीं हो सकता। इसलिए ऐसे किसी कृतित्व को उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कृतित्व नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऐसे किसी कृतित्व से दूसरों की मौलिक प्रतिभा के विकास की सम्भावना नहीं रहती और दूसरों की प्रतिभा भी आरोपित प्रतिभा हो जाती है।

यह प्रचार वही साधन-सम्पन्न देश और लोग करते हैं, जो या तो देश-देश में यथास्थिति बनाये रखकर अपना सर्वतोमुखी स्वार्थ सिद्ध करने में संलग्न रहते हैं या कि थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ शोषण की चक्की चालू रखना चाहते हैं। वही यह भी कहते हैं कि साहित्य वैयक्तिक होता है—अहं की इकाई की उपज होता है—आमआदमी के लिए नहीं लिखा जाता—न उसका उद्देश्य होता है—न उसकी तात्कालिक उपादेयता होती है—न वह अस्त्र है, न वस्तुवत्तीय यथार्थ से मतलब रखता है।

यह प्रचार कभी प्रच्छन्न रूप से, कभी अप्रच्छन्न रूप से किया जाता है। दोनों ही प्रकार का यह प्रचार मानव-संस्कृति के संरक्षण के लिए-विशुद्ध मानवतावाद के नाम पर—किया जाता है और भाववादी दार्शनिक पुट से प्रतिष्ठित और परिपुष्ट किया जाता है।

आम आदमी ऐसे प्रचार-बाहुल्य से पूर्णतया प्रभावित होता है और साहित्यकार भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। इसीलिए संसार के कई देशों में अब भी, इस समाजवादी युग में भी, सम्बद्धता के सिद्धान्त को बुरा समझा जाता है और सम्बद्ध साहित्यकार को सच्चा साहित्यकार नहीं माना जाता।

ऐसे ही प्रचारक्षेत्र के भाववादी विचार-धारा के व्यवस्थावादी लोग 'सही बयानी' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं और अनेकानेक बौद्धिक साहित्यकारों को गुमराह करते हैं और उन्हें-हरेक को-इतनी वैयक्तिक छूट देते हैं कि वह निजी कृतित्व की तलाश में अपने ही बनाये अहं में घुस जाते हैं और वहाँ रहकर वैयक्तिक सृजन की प्रक्रिया चालू रखते हैं और फिर जो देते हैं कृतित्व के रूप में, वह, उन्हीं की अपनी सम्पत्ति होता है और किसी दूसरे की नहीं।

इन बौद्धिक साहित्यकारों के कई-कई तौर-तरीके होते हैं। इनके साहित्यिक आन्दोलन भी कई-कई रंग-रूप के होते हैं। इनकी प्रवाहित धाराएँ कभी किसी नाम से व्याख्यायित होती हैं कभी किसी नाम से।

देखना यह है कि यह 'सही बयानी' है क्या बला?

यह वह बला है, जो साहित्यकार को दायित्वहीन बनाकर उसके अहं को, उसके व्यक्तित्व को इतिहास और युग-बोध से विमुक्त कर देती है और उसे इस बात का सुअवसर देती है कि वह अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को जैसे चाहे काम में लाये। इस स्वतन्त्रता की चरम परिणति यह होती है कि अहंवादी साहित्यकार अपने क्षेत्र का सबसे बड़ा अराजक कृतिकार हो जाता है और उसकी कृति का कथ्य और शिल्प खंडित-विखंडित, असम्बद्ध और अमूर्त होकर रह जाता है। ऐसा कृतिकार ही तो अस्तित्ववाद, दादावाद, अवांगार्दवाद और अनेक ऐसे वादों का प्रवर्तक और प्रतिस्थापक हो जाता है। ऐसे कृतिकार देश-देश में विराजमान हैं। गिनाने की जरूरत नहीं है। अनुभूतिवादियों का भी एक ऐसा ही दल बन गया है। वह केवल अनुभूतियों से प्रेरित होकर उन्हीं को रूपायित करते हैं, कतई कोई सम्बन्ध वस्तुपरकता से नहीं रखते।

मतलब यह हुआ कि वह बला (कई-कई रूपों की) आत्मपरकता को ही प्रतिभासम्पन्न, मौलिक देन की जननी समझती है।

मतलब यह हुआ कि आत्मपरकता को ही तथाकथित 'सही बयानी' कहा जा सकता है; इतिहासहीनता को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है; जग और जीवन से और उसके यथार्थ से कटने को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है; अमूर्तन को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है; कथ्य और शिल्प के विखंडन को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है; आत्म-निर्वासन को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है; अराजक होते-होते भाव-विचार-शून्य हो जाने को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है; और भाषा के परित्याग को ही 'सही बयानी' कहा जा सकता है। पता नहीं प्रतिभा की यह मौलिक देन 'सही बयानी' क्या-क्या न कर गुजरे? इसका सब से विकसित आत्मपरक रूप 'सही बयानी' होता है। साहित्यकार बेचारा चला सही बयान की पकड़ में, पर न पकड़ सका उसे। गलत बयानी करते-करते वह इसी छलाव और भ्रम में बराबर बना रहा कि गलत बयानी ही सही बयानी है। और नतीजा यह हुआ कि गलत बयानी की स्थिति भी समाप्त हो गई और वह 'बयानहीन' हो गया। निःशब्द हो गया। गूँगा हो गया। धुरी-हीन हो गया। ध्रुव-हीन हो गया।

मतलब यह हुआ कि सम्बद्धता के विरोध में साहित्यकार को जग और जीवन खो देना पड़ा और वह इस हद तक निरीह हो गया—असमर्थ हो गया कि उसे अपनी भाषा भी छोड़ देनी पड़ी। उसके पास शेष रह गई उसकी तथाकथित दैव-प्रदत्त मौलिक प्रतिभा। वह न कर्म-योगी था—न हुआ—न होना चाह सकता था। यदि कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि वह न आदमी रह गया, न पशु, न बौद्धिक, न सृजक, न चेतन, न अँधेरा, न उजाला। अस्त्र तो वह हो ही नहीं सकता था। उसके लिये अस्त्र होना प्रतिबद्ध होना—सम्बद्ध होना है।

परिणाम यह निकला कि आत्मपरकता—केवल आत्मपरकता—सही बयानी का ढोंग रच सकती है, सही बयानी कतई नहीं कर सकती।

यही नहीं, यह भी होता है कि 'सही बयानी' के चक्कर में पड़े साहित्यकार उस सब प्रतिक्रियावादी तारतम्य के अंग भी बन जाते हैं, जो वस्तुवत्तीय यथार्थ की मूल समस्याओं के समाधान से सम्बद्ध नहीं होता, अपितु अवैज्ञानिक समाधानों से संवृत्त होता है और आक्रोश और आवेश मात्र से उद्‌भूत होता है—न जिसकी दृष्टि जीवनव्यापी होती है—न जिसकी क्षमता प्रबल और असीम होती है। इनके अलावा कुछ ऐसे भी 'सही-बयानी' वाले साहित्यकार होते हैं, जो निर्वीर्य तटस्थता के छद्‌म में पड़े-पड़े निर्वीय लेखन करते रहे हैं।

वास्तव में 'सही बयानी' इतिहास-सापेक्ष है। निरपेक्ष वह किसी प्रकार से नहीं है। वह भी युग-युग में बदली है, फिर-फिर बदलेगी, और नये-नये आयाम पाती रहेगी। वह निस्संग, निर्लिप्त, निर्विकार, अमूर्त्त अवधारणा नहीं है जो साहित्यकार के दिमाग में पहले से अपना पूर्णत्व प्राप्त किये बनी रहती है कि जिसे वह दिमाग से ही पाता है और दिमाग को ही सौंप देता है।

इस 'सही बयानी' की कसौटी क्या है? एक व्यक्ति की 'सही बयानी' दूसरे व्यक्ति की 'सही बयानी' हो ही, ऐसा आवश्यक नहीं है। व्यक्ति की 'सही बयानी' समूह की 'सही बयानी' नहीं हो सकती। समूह की 'सही बयानी' व्यक्ति की 'सही बयानी' से टकरा कर टूट सकती है, छिन्न-भिन्न हो सकती है। व्यक्ति की 'सही बयानी' तभी समूह के सामने टिक सकती है, जब वह समूह की सही दृढ़ आस्था से आपूरित हो और समूह की सच्ची मानवता से सम्पृक्त हो। ऐसी दशा में वह कौन-से मानव-मूल्य हैं, जो 'सही बयानी' को परख सकें। आत्मपरकता से बनी यह 'सही बयानी' वस्तुजगत् के मानव-मूल्यों से कदापि आँकी नहीं जा सकती। उसकी परख के लिए केवल वह कसौटी चाहिए जो मात्र आत्मपरकता से बने। लेकिन तब भी तो कोई आम आत्मपरक कसौटी नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि प्रत्येक आत्मपरक साहित्यकार की अपनी अलग आत्मपरक कसौटी होती है। एक की ऐसी कसौटी से दूसरे की 'सही बयानी' को कसना-परखना विवेक-सम्मत नहीं हो सकता।

यह है 'सही बयानी' की अहंमन्यता और आत्मरति जिसने अपने साहित्यकार को व्यक्ति-स्वातंत्र्य की छूट तो पूरी दी, मगर जमीन से उखाड़ फेंका, और न उसे दीन का रक्खा, न दुनिया का रक्खा। उसने उसे उसीके निर्विकार आदिम अहं में बन्दी बना दिया। ऐसी 'सही बयानी' का कोई सार्थक मानव महत्व और मूल्य नहीं है। ऐसी 'सही बयानी' की स्थिति मानव-मन की घोर असामाजिक भयावह स्थिति होती है।

अब 'सम्बद्धता' को लीजिये। सम्बद्ध साहित्यकार सम्बद्धता की स्थिति में वस्तुवत्तीय यथार्थ से जुड़ा होता है, उसीसे प्रभावित होता है, उसी को ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दार्शनिक दृष्टि से जाँचता-परखता है, उसी से अपनी वैज्ञानिक समाजवादी आलोचनात्मक चेतना को विकसित करता है, उसीसे प्रगतिशील और प्रतिगामी तत्वों का विवेकसम्मत आकलन करता है, उसीसे अपने व्यक्तित्व को निर्मित

करता है, उसीसे अपनी आत्मपरकता बनाता है और फिर अपनी उस बनी आत्मपरकता की संहति वस्तुवत्तीय यथार्थ से करता है और तब अपने व्यक्तित्व को जन-जन की आत्मपरकता का रूप प्रदान करता है। ऐसी संहति व्यक्तित्व का विघटन या विखंडन नहीं, वरन् उसका व्यापक प्रसारण और चेतन संवर्धन है। इसी संहति में साहित्यकार की चेतना इतिहासबिद्ध होकर साहित्य और संस्कृति के विकासशील तत्वों को सँजोये हुए समूह की चेतना को निर्मित करती है। आम आदमी भी साहित्यकार की कृति-बद्ध चेतना के स्तर पर पहुँचता है। और साहित्यकार की तरह ही संवेदनशील, भावुक और विचारवान् बनता है और मानव-मूल्यों का संस्थापक और संरक्षक बनता है, सम्बद्ध साहित्यकार ही जीर्ण-शीर्ण परम्परा को तोड़ता है, प्रगति के नये चेतन क्षितिज खोलता है, रूढ़ियों को नकारता है, अंधविश्वासों की बखिया उधेड़ता है, धर्मान्धता का बेड़ा गर्क करता है। तटस्थता से वह कोसों दूर रहता है। विशाल जन-समूह के लिए सच्ची मानवीय सहानुभूति देता है। भाषा की सम्पूर्ण उपलब्धियों से लाभ उठाता है। भाषा को नये तेवर और अर्थ देता है। उसे अधिक मार्मिक, गम्भीर और सम्प्रेषणीय बनाता है। वह अपने व्यक्तित्व में भी जीता है, दूसरों के व्यक्तित्व में भी जीता है और मानव की महान् क्षमताओं से चालित और परिचालित होता है। वह इतना स्वतंत्र और मुक्त होता है कि वह एकमात्र इकाई नहीं रह जाता, वरन् दूसरों की जीवन्त इकाई में व्यापकर सर्वप्रिय हो जाता है। उसके साहित्य का कथ्य और शिल्प बन जाता है। उसका साहित्य उसकी सम्पत्ति होकर भी दूसरों की सम्पत्ति बन जाता है। वह मरकर भी मरता नहीं, दूसरों में जीता है। वह भविष्य को भी, गढ़ता और माँजता है, सबके लिए सुन्दर, कलात्मक और सम्पन्न बनाता है।

लेकिन सम्बद्धता भी साहित्यकार को दायें-बायें, जरूरत से ज्यादा ढकेल देती है। दायें पहुँचकर साहित्यकार जीवन की अभिव्यक्ति सपाट बयानी से अत्यधिक करने लगता है। वह साहित्य को दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्योतिपत्र समझने लगता है। वह तात्कालिक समस्याओं से घनघोर रूप में जुड़े होने की वजह से, उन्हीं से उद्‌भूत आत्मपरकता का बिम्बन करने लगता है। ऐसा बिम्बन सतही अधिक, गहरा कम होता है। वह साहित्यिक कर्म को, रचना-धर्मिता को—उसके कलात्मक पक्ष को—उसकी बहुआयामी कृतियों को एक बने-बनाये साँचे में ढालने का प्रयास करने लगता है। इससे साहित्य का सृजन भावातिरेक से वंचित रह जाता है—मानवीय ऊष्मा की भावनाओं से दूर हो जाता है—और कथ्य के और शिल्प के संश्लिष्ट बिम्ब-विधान से खोखला रह जाता है। साहित्य-सृजन इसलिए केवल कथन मात्र अथवा वक्तव्य मात्र हो जाता है। उसकी संवेदनशीलता और उसकी सम्प्रेषणीयता में कमी आ जाती है। यह स्थिति वैसी ही भयावह होती है, जैसी प्रति व्यक्तिवादी—प्रति अहंवादी रचना—भयावह होती है। और बायें पहुँच गया साहित्यकार भी अपने कृतित्व को जीवन की व्यापकता से अलग कर लेता है। जीवन की वह मांसलता वह विविधता जो उसे मानवीय गरिमा प्रदान करती है और जिसके पाने और विकास करने के लिए आदमी ललकता रहता है, ऐसे

बायें बाजू के साहित्य-सृजन से ओझल हो जाती है और रचनाएँ केवल प्रतीक बनकर रह जाती हैं। कथ्य और शिल्प, सविशेष रूप से विशिष्ट बनकर, जीवन की समग्रता प्राप्त नहीं कर पाते। जीवन का घनत्व—जीवन का ताना-बाना विरल हो जाता है। भाषा अपनी सूक्ष्म संवेदनशीलता से रहित हो जाती है। इन खतरों से, सम्बद्ध लेखकों को अवगत होना चाहिए और इनसे बचना चाहिए।

जहाँ 'सही बयानी' वाले लेखक मात्र आत्मस्थ होकर रह जाते हैं और वस्तुपरकता से पूर्णतया कट जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर सम्बद्ध लेखक वस्तुपरकता को त्यागते तो नहीं, पर उसे इस ढंग से अपनाये रहते हैं कि उसकी अपनी मुद्राएँ व्यक्त ही नहीं हो पातीं। उनका कृतित्व वस्तुपरक हो कर भी नाममात्र को वस्तुपरक होता है। ऐसी कृतियों में कृतिकार की जो आत्मपरकता व्यक्त होती है, वह 'सही बयानी' में आई हुई आत्मपरकता से भिन्न होते हुए भी ऐसी होती है कि उसमें व्यक्त वस्तुवत्ता केवल विशिष्ट वैयक्तिक इकाई बनकर रह जाती है। सम्बद्धता से कृतिकार की मौलिकता का कोई झगड़ा नहीं है। सम्बद्धता कृतिकार को पूरी छूट देती है कि वह अपनी मौलिकता को बनाये रक्खे, उसे विशिष्ट बनाये। लेकिन सम्बद्धता का आग्रह यह जरूर रहता है कि वैयक्तिक मौलिकता जीवन की समग्रता में विशिष्ट बने—विकसित हो और मानवीय चेतना का स्वस्थ, सुन्दर स्वरूप हो। ऐसा इसलिए होना चाहिए, क्योंकि सम्बद्धता समाजवादी दर्शन से उद्‌भूत होती है और वह दर्शन इस बात के लिए दिशा-दृष्टि देता है कि संसार से शोषण समाप्त हो—युद्ध समाप्त हो—उसमें शांति रहे, प्रत्येक आदमी अपनी क्षमताओं का विकास करे कि वह और उस जैसे सभी आदमी सुखी जीवन जी सकें। कृतिकार ही अपनी मौलिकता का प्रदर्शन नहीं करे, बल्कि सभी की मौलिकता प्रदर्शित हो सके।

एक और बात है। 'सही बयानी' वाले साहित्यकार कलात्मकता के अलमबरदार बनकर भी उसकी सत्ता उसको नहीं देते। उसकी सत्ता को केवल अपनी आत्मपरकता का प्रतिरूप बना देते हैं। कलात्मकता वैयक्तिकता का पर्याय बन जाती है। सम्बद्ध साहित्यकार वस्तुवत्ता के संस्थापक और प्रतिपादक बनकर कलात्मकता को उसकी सत्ता नहीं देते। उसकी सत्ता को केवल वस्तुवत्ता का प्रतिरूप और पर्याय समझने की भूल करते हैं। दोनों प्रकार के साहित्यकार दो छोरों पर रहकर अपनी-अपनी तरह से गलतियाँ करते हैं। केवल वही साहित्यकार अपनी रचना-धर्मिता को सच्चे रूप में समाजवादी और मानववादी बना पाते हैं, जो संज्ञान का सिद्धान्त समझते हैं। साहित्यकार की मूल समस्या संज्ञान के समझने की है और फिर आगे बढ़ने की है।

लेनिन ने बड़ी सारगर्भित बात कही है—

Cognition is the eternal endless approximation of thought to the object, the reflection of nature in man's thought must be understood not 'lifelessly', not `abstractly', not devoid of movement, not without Contradictions, but in the. eternal process of movement the arising of contradictions and their solution.

संज्ञान के द्वारा ही आदमी अपने विचार को वस्तु का नैकट्य प्रदान करता है। यह काम वह शताब्दियों से करता चला आ रहा है। इस काम का कोई अन्त नहीं है। इसीलिए आदमी के विचार को, जीवनहीनता से नहीं, अमूर्त्तन से नहीं, न गतिहीनता से, न अन्तर्विरोधहीनता से, बल्कि गति की शाश्वत प्रक्रिया में, अन्तर्विरोधों के प्रकटीकरण और उनके समाधान में, समझना चाहिये।

लेनिन का यह कथन इतिहास-सम्मत है, विज्ञान-सम्मत है, दर्शन सम्मत है; मानव-जीवन की समग्रता को समाये हुए है; आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक क्रिया-कलापों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है; वस्तुपरकता और आत्मपरकता की द्वन्द्वात्मकता से निरूपित है; और सभ्यता और संस्कृति की सूक्ष्म और जटिल भंगिमाओं से आपूरित है।

लेनिन के ये वाक्य मानव-जीवन को सही वैज्ञानिक और समाजवादी दृष्टि और दिशा देते हैं।

साहित्यकार ऐसे ही संज्ञान से लैस होकर अपनी सृजन-चेतना को बनाये और फिर रचना-प्रक्रिया से गुजरकर भाषा की कृति दे, तो वह कृति निस्संदेह जीवन के रंग-रूप और उसके क्रिया-कलाप के अनुरूप होगी और कलात्मक भी होगी। वह कृति ही वास्तव में असली 'सही बयानी' की कृति होगी। वह कृति ही सच्चे अर्थों में सम्बद्ध कृति होगी।

सम्बद्ध कृतिकार ही वास्तव में 'सही बयानी' का सच्चा रूप प्रस्तुत कर सकता है। सम्बद्ध कृतिकार ही, साहित्य-सृजन में गहरी जीवन-दृष्टि से लग सकता है और व्यक्तिवादी समाधानों से—गलत बयानी से—बच सकता है। वही मानवीय मूल्यों की दृष्टि से चमकते जीवन की समग्रता का साहित्य रच सकता है। वही साहित्य को जीवन की अर्थवत्ता दे सकता है। वही जीवन की प्रतिगामी शक्तियों का पर्दाफाश कर सकता है। वही प्रगति के पथ का पथिक बनकर जीवन और साहित्य को एक-दूसरे का पूरक बना सकता है।

लेकिन साहित्य के रचने में एक ही सीधी लकीर में चलते नहीं बनता। लगभग सभी साहित्यकार चाहे वे 'सही बयानी' के पक्षधर हों, चाहे 'सम्बद्धता' के पक्षधर हों, अपने व्यक्तिगत अन्तर्विरोधों से भी परिचालित हो कर साहित्य की सृष्टि करते हैं। वह बने-बनाये साँचों में ढाल-ढाल कर रचनाएँ नहीं प्रस्तुत करते। साहित्यिक कृतियों का निर्माण चाक पर बरतन बनाने की तरह एक जैसा अभ्यस्त काम नहीं है। साहित्यकार की हर कृति उसकी नई उपलब्धि होती है। इसीलिए सजग साहित्यकार को उस वैयक्तिक स्वतंत्रता की जरूरत होती है, जो उसकी रचनाधर्मिता को समाजवादी दृष्टिकोण से अग्रसर किये रहे। समाजवादी दृष्टिकोण से वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण नहीं होता। उससे ऐसी स्वतंत्रता का गुणात्मक परिवर्तन होता है। इस प्रकार परिवर्तित होने से ऐसी स्वतंत्रता का सीमित-संकुचित क्षेत्र, वस्तुपरकता के व्यापक विस्तार को पाकर, व्यापक और विस्तृत हो जाता है।

इसीलिए अपेक्षा की जाती है कि जीवन जीने के लिए, दुनिया को समझने के लिए, उसके विकास के लिए, साहित्यकार सही दार्शनिक दृष्टिकोण से अपना विवेक बनाये और उस विवेक से रचना-कर्म में संलग्न हो।

'सम्बद्धता' वैयक्तिक आदिम विवेक को निश्चय ही समाजवादी विवेक बनाती है। विवेक को भी ऐतिहासिक विकास-क्रम में बदलना चाहिए और वह बदलता है और बदलकर ही नये कथ्य और शिल्प को नये मानवीय गुणों से सम्बद्ध और सम्पृक्त करता है। विवेक एक बार बन गयी ठोस चेतन ग्रन्थि नहीं है कि वह ज्यों-की-त्यों उतनी ही क्षमता की ग्रन्थि बनी रहे। इसलिए साहित्यकार को केवल अपने ग्रन्थिल अपरिवर्तनीय विवेक से रचना रचने में संलग्न नहीं होना चाहिए। विवेक न अतीत आबद्ध होता है, न परम्परा पीड़ित होता है, न केवल वैयक्तिक होता है, न केवल दार्शनिक होता है, न केवल आत्मपरकता का उत्प्रेरक होता है, न केवल वस्तुपरकता के प्रतिबिम्बन का आग्रही होता है। 'सम्बद्धता' ही आदमी को आदमी बनाती है और उसके साहित्य को महान् मानवीय गुणों का साहित्य बनाती है।

❐

कवि-सम्मेलनों में जनता और कवियों के संवाद की स्थिति

अपने देश में कवि-सम्मेलनों की परंपरा कुछ ऐसी रही है कि उनका आयोजन छोटे-बड़े नगरों में साल में दो-एक बार, या तो वहाँ की किसी प्रदर्शनी के अवसर पर या किसी अन्य सामाजिक समारोह के अवसर पर होता रहा है, और उनके संयोजकों का ध्येय भी वैसे ही कवियों को वहाँ आमंत्रित करने का होता रहा है और उनके आमंत्रण पर उनमें आनेवाले कवि भी वैसे ही होते रहे हैं जो कविता से कम, गले से ज्यादा, अपने स्वरारोह से और भी अधिक वहाँ की अर्ध-शिक्षित और अनपढ़ जनता को रिझा लेने के करतब करते रहे हैं। यह परंपरा ब्रजभाषा के कवियों द्वारा आयोजित सम्मेलनों से बहुत पहले शुरू हुई थी, जो अब सन् 1973 ई० तक कुछ मामूली हेर-फेर के साथ ज्यों-की त्यों चल रही है और वैसे ही चलाई जा रही है। जो थोड़ा-बहुत परिवर्तन अब हाल के कवि-सम्मेलनों में हुआ है वह सिनेमाई गीतों की धुनों पर गाई जानेवाली कविताओं के प्रसारण के रूप में हुआ है और आमजनता ने इस परिवर्तन को वैसे ही सराहा है, जैसे वह सिनेमा के गीतों को सुनकर बड़े जोर से दाद देने लगती है। इन सिनेमाई धुनों पर गाई जानेवाली गेय कविताओं की वजह से दूसरे आये हुए कवियों की अगेय कविताओं को लोग बड़े ही अनमने मन से सुनने लगे और नौबत यहाँ तक पहुँची कि इन कवियों की अवहेलना होने लगी। जहाँ इन कवि-सम्मेलनों से जनता में हिन्दी के प्रति एक प्रकार का मोह पैदा हुआ, वहाँ दूसरी ओर इनसे यह भी हुआ कि इनमें अच्छे कवियों की काव्य-कृतियाँ एक तरह से अनसुनी ही रह गयीं और इनमें व्यक्त अपने युग का भाव-बोध, नये कथ्य और शिल्प के साथ जनता के जी में जीने के लिए कतई न पहुँच सका और जनता अपने काव्य-बोध के स्तर पर, सिनेमा के हाल में पहुँचकर ही जैसे वहीं तक रह गयी और नये भाव-बोध के कविगण अपनी जनता से कट कर अपनी उपलब्धियों के क्षेत्र में ही सिमटकर रह गये। यानी कि जनता और कवियों के बीच की दूरी बढ़ गयी और कविता का सार्वजनिक विकास-क्रम उच्चस्तरीय न होकर निम्नस्तरीय हो गया। कविता की ऐसी स्थिति न तो आम जनता के हित में है, न कवियों के हित में और न ही हिन्दी-काव्य के हित में। ऐसी स्थिति अपने देश की संस्कृति के लिए भी दुर्भाग्यपूर्ण है।

सभी विचार-चेता साहित्यकारों को यह भयावह स्थिति परेशान किए है। सभी चिन्तक इसपर सोच-विचार कर रहे हैं। इस समस्या का समाधान चिन्तन के धरातल पर

निस्संदेह वह नहीं हो सकता, जो आम जनता की रुचि के धरातल पर होता हुआ दिखाई देता है। कविगण तो अपनी कविताओं को ऊपर उठाकर काव्य में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। आम जनता अपने जीवन के सतही धरातल पर ही वैसी कविताएँ सुनना पसन्द करती है, जो जरा-सा गुदगुदा कर चल देती है। आम जनता काव्य के विकास-क्रम को किसी भी प्रकार से हृदयंगम नहीं करना चाहती। ऐसी स्थिति को द्वन्द्व की स्थिति ही कहा जा सकता है।

मैं मानता हूँ कि कवि को अपनी जनता से उसके जीवन से, आज के परिवेश से, सामाजिक और राजनीतिक भावधाराओं से जुड़ना चाहिए, तभी उसकी कविता जीवन्त कविता हो सकेगी। यह जुड़ने का काम देखने में तो सहज-साधारण लगता है, लेकिन है नहीं, बल्कि गंभीर और जटिल है, जिसे पूरा कर सकने में अधिकांश कवि अपने को अक्षम और असमर्थ पाते हैं। वह जनता के लिए, जीवित काव्य, उसी के स्वरों में लिखना चाहते हैं तो उनकी आत्मपरकता सर्जना के उन नये आयामों को ग्रहण नहीं कर पाती जिनको ग्रहण करके ही हिन्दी-कविता के विकास को विश्व-काव्य की समृद्धि से जोड़ा जा सके। इसलिए बेचारे नये कवि हिचकिचाते और कतराते रहते हैं और सही अर्थ में जन-कवि नहीं बन पाते। कहा जा सकता है कि जनता से जुड़ना कवि के लिए ज्यादा जरूरी है न कि काव्य के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहना और केवल काव्य के हित में ही कविता लिखते रहना। ऐसा कहना किसी भी प्रकार से ठीक नहीं कहा जा सकता। केवल जनता को ही एकमात्र लक्ष्य मानकर अपने को उसी में लय कर देने में खतरा यह है कि कवि नये भाव-बोध का कवि—ऐसी स्थिति में पहुँचकर काव्य के उस वस्तुपरक कथ्य और शिल्प में ही लिखने लगेगा, जिसमें अब से पहले पूर्ववर्ती परम्परित कवि लोग लिखते चले आए हैं। वस्तुपरक काव्य-लेखन उतना संवेदनशील लेखन नहीं होता, जितना गहरे जाकर भोगा हुआ आत्मपरक लेखन होता है। जनता को निश्चय ही उसकी जड़ वस्तुपरक स्थिति से उबारकर नई आत्मपरक संवेदनशील स्थिति में ले जाना और फिर उसे अधिक-से-अधिक चेतन बनाना प्रत्येक कवि और साहित्यकार का कर्त्तव्य और दायित्व है। जीवन बहुमुखी और जटिल हो गया है जिसकी वजह से नई-नई सूक्ष्म और जटिल मन:स्थितियाँ पैदा हो गयी हैं और इन मन: स्थितियों की जगह से अब कविता की रचना-प्रक्रिया भी उसकी पिछली रचना-प्रक्रिया से बदलकर सूक्ष्म और जटिल हो गयी है। कवि ऐसी मन:स्थितियों से गुजर रहा है। ऐसी स्थितियों में ही अब अपना नया काव्य-लेखन कर रहा है। मन:स्थितियों की सूक्ष्म और जटिल प्रक्रियाओं को न तो नकारा जा सकता है, न उन्हें छोड़ा जा सकता है। कोई भी कविता शाश्वत नहीं है। विकास-क्रम की कविता निरंतर अपने कथ्य और शिल्प के आयाम बदलेगी और उसके बदले हुए कथ्य और शिल्प को स्वीकार करना पड़ेगा। यही है वह बिन्दु या वह स्थिति जहाँ से यह सविवेक कहा जा सकता है कि कवि के नये काव्य-बोध को ग्रहण करने के लिए जनता को सप्रयास वहाँ तक पहुँचना चाहिए। ऐसे प्रयास की संभावना फिलहाल तो क्षीण ही दिखती है, क्योंकि अपने देश की अर्ध-

शिक्षित और अनपढ़ जनता अब भी चेतन रूप से न तो अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन की गहराइयों में गई है, न वहाँ जाना चाहती है, बल्कि वह, अब भी जड़-रूढ़ियों से बने सम्बन्धों से जीवन जीने को ही अपना लक्ष्य समझती है। इसलिए उसे वहाँ से उबारने के लिए और नये वैज्ञानिक पारस्परिक संबंधों से अवगत कराने के लिए और इन्हीं सम्बन्धों से परिचालित करने के लिए अपने विकास के क्रम को बढ़ाते रहने के लिए, देश के सामाजिक और राजनीतिक कायकर्त्ताओं को एवं समाचार-पत्रों को घनघोर परिश्रम कई-कई साल तक अनवरत करना चाहिए। तभी जनता और आज के कवि की यह लम्बी दूरी, भविष्य में किसी दिन न मिटी तो भी, कम हो सकेगी, और तब यह संभावना भी उत्पन्न हो सकेगी कि हो रहे कवि-सम्मेलनों में जनता और कवियों के बीच में सार्थक संवाद और संलाप हो। यदि देश के कर्णधारों ने गाँव-गाँव और शहर-शहर में पहुँचकर जनता को सामाजिक और राजनीतिक जीवन में सहयोगी बनाने का काम न किया तो निश्चय ही आज की वह दूरी, जो जनता और कवि के बीच में है, और भी बढ़ जाएगी और काव्य कुछ व्यक्तियों के समझने और सराहने का मुँह देखने लगेगा। कवियों से यह आशा करना गलत होगा कि वह सक्रिय रूप से अपना सारा समय और तन-मन देकर जनता को उसी तरह संवेदनशील बनाए जैसाकि सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर बनाने का दायित्व है। जबतक जनता को जीवन की वर्तमान बौद्धिक पाठशाला में शिक्षित और दीक्षित नहीं किया जाएगा, तबतक जनता इस योग्य नहीं हो सकती कि आज वह कवि-सम्मेलनों में कवि से संवाद और संलाप कर सके। मैं यह नहीं कहता कि कवि अपने कमरे में बन्द रहे और अपना जीविकोपार्जन करता रहे और जनता के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर उसका सहयोगी और उसके आज के जीवन का सहभोगी न बने। सहयोगी और सहभोगी बनने का साहस आज के अधिकांश कवियों में नहीं हो सकता। यह साक्षात्कार किया हुआ सत्य है। इस सत्य से इन्कार करना आज की मौजूदा स्थिति से मुँह मोड़ने के समान है। हरेक कवि से यह आशा करना भी मात्र वैचारिक दुस्साहसिकता होगी कि वह, बिना वस्तुवत्तीय यथार्थों की एवं आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त किए हुए ही, अपनी जनता की क्रान्ति का तमगा अपने सीने पर लगाकर दिन-रात तमतमाने लगे और कदम-कदम पर व्यवस्था और सत्ता का पूर्णरूपेण दुश्मन बन जाए। क्रांति भावावेश में आकर सर्वस्व होम करके नहीं हो सकती। क्रांति की रणनीति और कार्यनीति होती है। कहाँ और किस कवि के पास इतना समय है और इतनी बुद्धि है कि वह, अपने बल पर, क्रांति की रणनीति और कार्यनीति निर्धारित करे और उसकी अगुवाई करे। क्रांति का दायित्व राजनीतिक पार्टियों पर है। पार्टियों से जुड़कर ही कविगण क्रांति की रणनीति और कार्यनीति से अवगत हो सकते हैं। उन्हीं के मार्ग-निर्देशन पर उन्हें सहयोग और सहारा दे सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक कवि किसी पार्टी का सक्रिय सदस्य हो ही और अपना पूरा समय पार्टी के काम में लगाए ही। अवश्य ही कुछ ऐसे लेखक हैं कि जो पार्टी के काम को, अपना पूरा समय देकर, सम्पन्न करते हैं और उसके मार्ग-निर्देशन पर जनता की समाजवादी लड़ाई लड़ते हैं। लेकिन देखा यह गया है कि पार्टी

के सदस्य-कवि-गण संघर्ष में लगे रहकर काव्य के विकासक्रम को मुख्यतया वस्तुवत्तीय स्वरूप देकर ही संतोष कर लेते हैं और आत्मपरक होकर यथार्थ और युग-बोध की सूक्ष्म और गम्भीर गहराइयों में नहीं जाते। जब मैं यह कहता हूँ तब इसका यह मतलब नहीं है कि मैं हरेक कवि को किसी पार्टी का सदस्य न होने की सलाह देता हूँ।

इसीलिए यदि आज के कवि-सम्मेलनों में नये युग-बोध के कवियों को अनमने चित्त से सुना जाता है और उनकी कविताओं की संवदेनशीलता को नहीं अपनाया जाता तो ऐसे यथार्थ की स्थिति में किसी भी कवि को हताश नही होना चाहिए और न ही अपने काव्य-लेखन को परित्यक्त करना चाहिए। इस यथार्थ की स्थिति की पूरी जिम्मेदारी मेरी समझ में, राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ताओं पर है, न कि आज के नये युग-बोध के कवियों पर। नाहक ही इस स्थिति के लिए कवियों को जिम्मेदार ठहराया जाता है।

इन कवि-सम्मेलनों में नये युग-बोध के कवियों को भी अपनी कविताएँ सुनाना चाहिए, ताकि साल-ब-साल वैसी कविताएँ सुनते-सुनते आम जनता की चेतना कुछ-न-कुछ अधिक संवेदनशील हो सके। इन कवियों को इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि जनता इनकी कविताएँ सुनकर मुँह बिचकाती है और इन्हें दाद नहीं देती। कवि-सम्मेलनों में ऐसी कविताएँ सुनाना भी एक बहुत बड़े दायित्व का काम है और इस दायित्व से मुँह नहीं चुराया जा सकता। ऐसे कवि-सम्मेलनों में ऐसी कविताएँ सुनाकर ऐसे कवि सामाजिक स्तर पर संप्रेषणीयता के लिए संघर्ष करते हैं और इस संघर्ष को निरन्तर करते रहना इसलिए और भी जरूरी है कि यह संघर्ष न तो और सामाजिक कार्यकर्ता करते हैं, न ही राजनीतिक कार्यकर्ता। केवल कवि को ही यह संघर्ष करते रहना पड़ता है, और उसे तबतक सबसे ऐसे ही उपेक्षित और अपमानित होते रहना पड़ता है, जबतक जनता जड़ संबंधों को तोड़कर नए समाजवादी संबंध स्थापित नहीं कर लेती और नई संवेदनशीलता उसे प्राप्त नहीं हो जाती। यह संघर्ष चलता रहेगा। इस संघर्ष से कतराना नहीं चाहिए।

अब देश की राजनीति को समाजवाद की ओर ले जाने का विचार काम कर रहा है। यह ठीक है कि उसे साकार करने के लिए और जनता के दु:ख-दर्द को दूर करने के लिए समाजवाद की कार्यनीतियाँ, सामाजिक, आर्थिक और राजनीति के क्षेत्रों में उसके अपने तरीके से न बनाई जा रही हैं–न अपनाई जा रही हैं, फिर भी नई दिशा में देश को प्रयाण करना है–यह तो निश्चित ही है। अब देश समाजवाद की दिशा से विपरीत दिशा में नहीं ले जाया जा सकता। लेकिन समाजवाद की दिशा में जाने के लिए पग-पग पर आम जनता को क्षेत्रीय, प्रांतीय, देशव्यापी, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ेंगी, ताकि प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ समाजवाद को साकार करने का काम विफल न कर सकें। ऐसी लड़ाइयों में कवि भी एक नागरिक की हैसियत से शरीक हो सकता है। उसका शरीक होना इसलिए जरूरी है कि वह भी तो बिना संघर्ष में शामिल हुए समाजवाद को अपने लिए भी साकार नहीं कर सकता। कवि की हैसियत

से कोई भी साहित्यकार ऐसी लड़ाई मात्र अपनी कविता से नहीं लड़ सकता। कविता में, ऐसी लड़ाई के प्रभाव, रचना का रूप ले सकते हैं। लेकिन कविता, आमने-सामने की लड़ाई का सीधा साक्षात्कार नहीं कर सकती।

कवियों में कुछेक अपवाद भी हो सकते हैं, जो शरीर से और अपनी कविता से–दोनों से–जनता की लड़ाई लड़ें। वह धन्य ही कहे जा सकते हैं। लेकिन ऐसे अपवाद से यह निष्कर्ष निकालना न्यायसंगत न होगा कि सभी कवि लाजिमी तौर से देह से और कविता से–दोनों से–जनता की लड़ाई लड़ें।

कविताएँ तो जनता की मौजूदा आत्मपरकता के बदलने में और उसे समाजवादी आत्मपरकता का रूप प्रदान करने में सहायक होती हैं। यह काम निरन्तर चलता रहता है। और तब जाकर एक लम्बे अरसे के बाद जनता की आत्मपरकता समाजवादी आत्मपरकता का रूप पा सकने में सक्षम होती है। यह कार्य सम्पन्न करना इस मिश्रित राजनीति के काल में इसलिए और भी कठिन और जटिल है, क्योंकि कवियों की पहुँच और उनकी रचनाओं की पहुँच अभी भी देश की विशाल जनता तक नहीं हो पाई। न तो जनता ही शत-प्रतिशत साक्षर है, न ही ऐसी पत्रिकाएँ हैं, जो हरेक देशवासी तक पहुँच सकें। न ऐसे प्रकाशन-गृह हैं जो इस दिशा में ठोस कार्य कर सकें। न ऐसी साहित्यिक संस्थाएँ हैं, जो यही काम करती रहें। तब भला कवि या उसकी कविता कैसे समर्थ हो कि वह आम जनता का समाजवादी मानसिक रूपान्तरण करे। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि कवि कविता के द्वारा क्रांति का कार्य करे और दु:ख भोगते-भोगते मर जाए। मैंने यह बात इसलिए नहीं कही कि मैं कवि को सुविधा-भोगी बनाये रखने का पक्षपाती हूँ। समाजवाद के साकार होने पर ही सही माने में वह सुविधाएँ मिल सकती हैं, जो कवि को आदमी बने रहने के लिए आवश्यक हैं। अभी तो आज के युग में किसी को भी वैसी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं, भले ही कोई किसी से मान-सम्मान पा ले या पुरस्कार पा ले, लेकिन इस सबसे मूल समस्या और उसके समाधान के उपर्युक्त निष्कर्ष पर कोई भी फर्क नहीं पड़ता और वह निष्कर्ष अपनी जगह पर अटल बना रहता है। आज के युग में सम्मानित और पुरस्कृत होना आँखों में खटक जरूर सकता है, लेकिन सम्मानित और पुरस्कृत होने को जनता से कटने और व्यवस्था या सरकार से जुड़ना नहीं कहा जा सकता। इसे जीवन जीने के स्तर पर चाहे कोई कवि की कमजोरी कह ले या कवि का अंतर्विरोध कह ले। इसलिए किसी के सम्मानित या पुरस्कृत मात्र हो जाने से हम कोई भी उसे जनता की बिरादरी से या जागरूक कवियों की बिरादरी से सदा-सदा के लिए निर्वासित नहीं कर सकते। यदि हम या हममें से कोई भी ऐसे निर्वासन को सही समझता है और उसके बल पर किसी सम्मानित या पुरस्कृत हुए कवि को अपने से अलग करता है तो ऐसा करना उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की स्थितियाँ कायम हैं और अभी बहुत दिनों तक कायम रहेंगी। समझदारी इसी में है कि हम लोग सम्मानित या पुरस्कृत होने के लिए स्वयं दाँव-पेंच न लड़ाएँ और यदि सम्मान या पुरस्कार पायें तो उसके स्वीकार करने में न हिचकिचाएँ, न ही सम्मान या पुरस्कार

पाकर सम्मानदाता और पुरस्कारदाता के प्रति, उसके अवगुणों और वर्गीय चरित्र को भूलकर, नमित हो जाएँ। इसके अलावा यदि सम्मानित या पुरस्कृत हुए कवि के विरुद्ध दूसरे अतिवादी आलोचक कुछ अनचाहा आक्रोश व्यक्त करते हैं, तो उस कवि को उस आक्रोश से आहत नहीं होना चाहिए।

जब मैं कहता हूँ कि आज का नया समाजवादी कवि जनता की मौजूदा आत्मपरकता को समाजवादी आत्मपरकता में रूपान्तरित करने में सहायक हो सकता है। तब मेरे इस कहने से यह मतलब होता है कि बदली हुई आत्मपरकता तभी समाजवादी आत्मपरकता हो सकती है, जब वह बाह्य यथार्थ के प्रभावों का प्रतिबिम्बन करे, साथ-ही-साथ उस यथार्थ से परीक्षित हो और उससे बराबर जुड़ी हुई हो—न कि उससे नितान्त कटी हुई, अपने-आप में एक नई असम्पर्कित और असम्बद्ध अजनबी-सी इकाई होने की अनुभूति दे। मुझे इसे कहने की जरूरत इसलिए हुई, क्योंकि आत्मपरकता जब अपने मूल स्रोत से कटकर उससे अपना संबंध पूर्णतया विच्छेद कर लेती है और नितान्त नई मानसिक इकाई मात्र बन जाती है, तब उसके समाजवादी आत्मपरकता में रूपान्तरित होने की संभावना कतई नहीं रह जाती। ऐसा अनेक देशों की काव्य-यात्रा के आधुनिक इतिहास में देखा और पाया गया है। बाह्य यथार्थ से परीक्षित न हो सकने वाली ऐसी आत्मपरकता वहाँ के अनेकानेक कवियों को मात्र आत्मकेन्द्रित बना चुकी है—अहंवादी बना चुकी है—एकाकी उच्छिन्न बना चुकी है—और पूर्णरूपेण अजनबी बना चुकी है कि न कवि स्वयं को पहचानते हैं और न कोई दूसरा उन्हें पहचानता है—न ही कवि स्वयं को समझते हैं और न उन्हें कोई दूसरा समझता है। ऐसे कवि न भाषा के रह जाते हैं, न भाषा उनकी रह जाती है। उनके प्रत्येक काव्य-क्षण समय के आगे-पीछे के सभी क्षणों से जुड़े नहीं होते। उनकी ऐसी कविताएँ अर्थशून्य—संवेदनशून्य—निरर्थक कृतियाँ मात्र होकर मर-मिट जाती हैं। हिन्दी में प्रगतिवाद के दौर के बाद कुछ ऐसी ही आत्मपरकता की ओर नये-नये कवि गये और तब ऐसा कुछ लिखने लगे जो सचमुच बाह्य यथार्थ से उच्छिन्न होकर ही लिखा जाता रहा। परिणति यह हुई कि ऐसी आत्मपरकता की रचनाएँ अपने मूल यथार्थ के स्रोत से कदापि परीक्षित न हो सकीं और वह सब तरह से असमर्थ ही रहीं। एक के बाद एक नया वाद आया और सभी वाद कुछ दिन जी-जिलाकर निस्सहाय मर-मिट गये। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इन विभिन्न वादों के बड़े और छुटभैये कविगण यथार्थ के अतल में जा कर नहीं डूबे और वहाँ से वैज्ञानिक समझ नहीं ला सके और अपने-अपने चिन्तन में तरह-तरह के भटकावों के शिकार होते चले गये। इन लोगों ने अपनी ऐसी रचनाओं के स्थापन के लिए तरह-तरह के अवैज्ञानिक और असामाजिक तर्क और कुतर्क बड़े धूमधाम से प्रस्तुत किए। लेकिन इनमें से कोई भी शायद ही ऐसा कवि रहा हो जो सचमुच समाजवादी दृष्टिकोण से दुनिया को और अपने परिवेश के आसपास के जीवन को देखता और समझता रहा हो। इसलिए ऐसे कवियों ने अपने से पहले के जनवादी और समाजवादी प्रगतिवाद को मरा और मुर्दा घोषित कर दिया। अब इतने सालों बाद देश के समाजवाद की ओर उन्मुख होने पर यह अवसर

आया है कि ऐसे अप्रगतिवादी कवियों की रचनाओं का नये परिप्रेक्ष्य में समाजवादी दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन किया जाए और उनके किए-करे को, जनहिताय में, पद और प्रतिष्ठा से च्युत किया जाए, ताकि भ्रम में भटकी हुई जनता, नये समाजवादी दृष्टिकोण से लैस, आज की प्रगतिवादी कविताओं को धीरे-धीरे अपनी चेतना में स्थान दे सके और अपनी चेतना का वैसा ही नया रूपान्तरण कर सके, जो सब प्रकार से जनजीवन की जड़ता को शीघ्र ही चूर-चूर कर सकने के लिए सक्षम हो। इसी प्रकार से प्रगतिवादी कवि जनता से और जनता उनसे कुछ ही दिनों में जुड़ने लगेगी और तब सर्वहारा संस्कृति के विकास का क्रम, नये-नये कथ्य और शिल्प के साथ, दृष्टिगोचर होने लगेगा और तब कवि-सम्मेलनों में ऐसी प्रगतिवादी रचनाओं की माँग बढ़ेगी और तभी जनता और कवि के बीच संवाद और संलाप की स्थिति पैदा होगी।

इनसब बातों के परिप्रेक्ष्य में 23 फरवरी को बाँदा में हुए कवि-सम्मेलन को जाँचना और आँकना चाहिए। इस कवि-सम्मेलन में संयोजकों ने जानबूझ कर उन मंचीय कवियों को आमन्त्रित नहीं किया था, जो केवल गीतकार थे अथवा अपने दृष्टिकोण में समाजवादी नहीं थे। संयोजकों का उद्देश्य बहुत स्पष्ट था कि इस बार जनता और कवियों से आमने-सामने का साक्षात्कार हो और दोनों की रुचियों और संस्कारों में द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो और दोनों ही एक-दूसरे की मन:स्थितियों को जानें और समझें, ताकि जनता भी देखे कि अब जो नया लिखा जा रहा है वह क्या और कैसा है और कवि भी देखें कि उनका लिखा और पढ़ा गया जनता में कहाँ तक पहुँचकर किस हदतक संप्रेषणीय होता है निश्चय ही ऐसे कवि-सम्मेलन की तुलना परंपरित कवि-सम्मेलनों से नहीं की जा सकती। संयोजकों को और कवियों को भी यह तो पहले से ही ज्ञात था कि दोनों तरफ आंशिक सफलता ही प्राप्त हो सकेगी। हुआ भी यही। बाँदा की रूढ़िग्रस्त जनता सबकुछ सार्थक नये को सिर हिला कर आत्मसात् नहीं कर सकी। कविगण भी भारी जनसमूह को पूरी तरह से अपनी रचनाओं से अभिभूत नहीं कर सके। इसपर भी जो आंशिक सफलता दोनों तरफ दिखायी दी, वह भी पर्याप्त सफलता कही जा सकती है। आवश्यकता है कि अब भविष्य में आयोजित होनेवाले कवि-सम्मेलनों को हिन्दीवाले ऐसा ही आयोजित करें कि दोनों तरफ संवाद और संलाप की स्थिति बराबर बनी रहे और दोनों तरफ द्वन्द्व का समाहार होता रहे, और समाजवादी और प्रगतिवादी कविताएँ नये कथ्य और शिल्प के साथ सामने उभरती चली आएँ। इस सम्मेलन की सार्थकता ऐसी दिशा देने में समझी जानी चाहिए।

❐

कविताएँ त्रिलोचन की :
तब और अब के संदर्भ में

अब आज जब

तरह-तरह के कवि तरह-तरह की कविताएँ लिख रहे हैं-तरह-तरह से तरह-तरह की छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में छप रहे हैं-और तरह-तरह से प्रचारित और प्रसारित हो रहे हैं और जो कुछ लिख रहे हैं, उसे सही समझ रहे हैं-

अब आज जब

नये-नये 'वादों' की, छोटी-बड़ी धाराएँ बहायी जा रही हैं-भीड़ से भाग कर 'अकेलेपन' और 'अजनबीपन' में कैद होकर जगत् और जीवन से सब तरह का सम्बन्ध तोड़ा जा रहा है-परिवेश से मुँह मोड़ा जा रहा है-किसी दूसरे के लिए जीना हराम समझा जा रहा है-अपने-आपको भीतर-भीतर मुरदा बनाया जा रहा है-और अस्तित्वहीनता को अस्तित्व-आदिम अहं-की उपलब्धि समझा जा रहा है-

अब आज जब

नकारना-इनकारना जबर-जोर पर है-ठुकराना-दुतकारना सुबह से लेकर शाम तक-रात तक बराबर चालू रखना, आदमियत में शामिल है-न कहीं कोई थिराव है-न टिकाव-न अपनाव-सब-कुछ सड़ा है-गला है-खराब है-न कुछ नैतिक है, न अनैतिक-जो कुछ है-क्षण है-क्षण के आगे कुछ नहीं है-न भूत था, न वर्त्तमान है-न भविष्य है-

अब आज जब

कविता को नंगी कर दिया गया है-उसकी रीढ़ तोड़ दी गयी है-उसे हर तरह से अपंग कर दिया गया है-उसका हर तरह से हरण कर लिया गया है-उसकी स्वर और ध्वनियाँ छीन ली गयी हैं-और अवचेतन मस्तिष्क में ले जाकर ऊलजलूल में भरपूर भुला-भटका दिया गया है-

अबआ ज जब

सार्थक कुछ नहीं है-जो है वह निरर्थक है-संगति कुछ नहीं है-जो है वह विसंगति है-न विवेक है-न संकल्प-न भाव है-न विचार-संसार हुआ-न-हुआ सब बराबर है-

अब आज जब

झूठ है-फरेब है-चार सौ बीसी है-लूट-खसोट है-झीना-झपटी है-मार-काट-हत्या-हनन और हरण है-

अब आज जब

सब-कुछ टूटा है-उखड़ा है-कुरूप है-असम्बद्ध है-क्रमहीन है-बेमतलब है-बेकार है-बेभाव है-बेमोल है-बेबोल है-बनावटी है-तब त्रिलोचन की कविताएँ कहाँ टिकती हैं-टिकी हैं- यह देखना जरूरी है-बहुत जरूरी है!

'धरती' त्रिलोचन का पहला काव्य-संग्रह है, बहुत दिन हुए, छपा था। 'गुलाब और बुलबुल' उनका दूसरा काव्य-संग्रह है। नवम्बर, सन्' 56 में, छपा था। रूबाइयों और गजलों का रचना-काल नहीं दिया गया।

'दिगन्त' उनका तीसरा काव्य-संग्रह है। जनवरी, सन्' 57 में, छपा था। इसमें,' 50 से' 55 तक के कुछेक सॉनेट हैं।

इनमें संग्रहीत कविताओं के अलावा भी त्रिलोचन ने ढेर-सी कविताएँ और सॉनेट लिखे हैं। वह प्रकाश में न आया कृतित्व है। उनके विषय में कुछ कह सकना असम्भव है। लेकिन, इतना तो अवश्य ही अनुमानित किया जा सकता है कि, उनमें भी त्रिलोचन अपने अंदाज से बोले, बने और सँवरे होंगे। वह ऐसे कवि कभी नहीं रहे कि, दिन में कुछ और रात में कुछ और हो गये हों। वह निश्चय ही वहाँ भी-उनमें भी-उसी अपनी धुरी पर चले होंगे, जिस धुरी पर वह शुरू से चलते रहे हैं। यह भी निश्चय है कि, उनमें यदि कुछ विकास हुआ होगा, तो वह विकास उनकी चाल में व्यक्त हुआ होगा। उनसे यह आशा नहीं रही, न है कि, वह अपनी कविताई की चाल-चलन में नीचे गये होंगे या कहीं गड्ढे में गिरे होंगे।

सन्' 55 बीत गया। वह आज सन्' 70 है। 15 साल का अन्तराल हो गया।

इस 15 साल में देश बदला-देश की राजनीति बदली-जीने-मरने का तरीका बदला-कहने-सुनने का तरीका बदला-पहुँच-पकड़ की दृष्टि बदली-कथ्य बदला-शिल्प बदला-कविता का कायापलट हो गया-गद्य और पद्य की दूरी मिट-सी गयी-मान और प्रतिमान बदले-जिन्दगी और मौत का भेद मिट गया-शासन बदला-सरकारें बदलीं-दल-बदल हुआ-हड़तालें हुईं-योजनाएँ बनीं और बिगड़ीं-न्याय और अन्याय का रुख और रवैया बदला-हानि-लाभ के दंद-फंद बदले, देश-विदेश के आदान-प्रदान बदले, आदमियों के आचरण बदले-रोग और रोग के निदान बदले, जोड़-तोड़ के सिद्धान्त बदले, दर्द और सिर दर्द बदले, सुख और छाँह उड़ गये-समाजवाद का नाम चल पड़ा-दंगे-फसाद हुए-पार्टियों में विघटन हुआ-राष्ट्र की भावात्मक एकता का नारा निनादित हुआ, प्रान्त-प्रान्त की हितपरता में दरारें पड़ीं, मध्यम वर्ग चिरौंटे-सा चिचियाने लगा, निम्न वर्ग घेराव करने लगा, भूमि हथियाने लगा, मंत्रियों, मुख्य मंत्रियों और प्रधानमंत्री

में रस्सा-कशी होने लगी-हिन्दी और उर्दू का आपसी तनाव कमोबेश हुआ। और न जाने, कितने-कितने कानून बने और थोपे गये, और न जाने, कितने अब भी बनने की प्रतीक्षा में, फाइलों में पड़े अवसर देख रहे हैं-शासन से साँठ-गाँठ किये साहित्यिकों को नाम और इनाम मिले-राष्ट्रीय मंच पर राष्ट्रीय स्तर पर, प्रान्त-प्रान्त के साहित्यिक अब भी मिल-जुल न सके-न एक हो सके-सब की डफली अलग है-सब अपना-अपना राग अलापते हैं-कोई विदेश से काव्य की प्रेरणा लेता है-कोई किसी को हलाल करता है, कोई किसी को, जैसे किसी के पास अपना-अपने देश का-कुछ नहीं है। हालत नाजुक है-खराब है। सब-कुछ उलट-पलट रहा है। नया कब और क्या रूप लेगा, यह जानना कठिन है?

त्रिलोचन इस माहौल में रह रहे हैं-जी रहे हैं। इस माहौल से वह बखूबी परिचित हैं। इसे अच्छी तरह से जानते हैं। और इसका प्रभाव भी चारों तरफ होता देखते हैं। लेकिन, कोई बात है कि, त्रिलोचन नहीं टूटे-नहीं उखड़े-अजनबी नहीं हुए-अपने में खोये नहीं-दूसरों से विमुख नहीं हुए-और विघटन के इस परिवेश में, विघटित नहीं हुए। ऐसा मैंने सुना है। साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में श्री वाचस्पति के सवाल और उनके जवाब से, ऐसा मैंने जाना है।

उनके विघटित न होने का मतलब है कि, वह माहौल के विघटनकारी तत्त्वों को अच्छा नहीं समझते-न अपने हित में-न अपनी कविता के हित में।

इसका यह भी मतलब है कि इस माहौल की विघटित कविताओं को, वह अच्छा नहीं समझते।

इसका यह भी मतलब है कि, विघटित कविताओं के कथ्य और शिल्प को, वह श्रेयस्कर नहीं समझते। इसका यह भी मतलब है कि, वह विघटन के इस माहौल में भी, कुछ ऐसे तत्त्व पाते हैं, जो उन्हें और उनकी कविता को जिलाये रखने में सक्षम हैं। त्रिलोचन उन्हीं तत्त्वों के बलबूते पर जी रहे हैं और उन्हीं तत्त्वों के बलबूते पर अपनी कविता को जिला रहे हैं।

वे जिलानेवाले तत्त्व कोई नये तत्त्व नहीं हैं। उन्हें त्रिलोचन ने 'धरती' से जमाने की कविताओं के समय ही खोज लिया था और पहचान लिया था और अपना लिया था। वे तत्त्व तब उन्हें प्रेरणा देते थे और अब भी प्रेरणा देते हैं। वे संघटन के तत्त्व है। उन तत्त्वों के मूल में आदमी के जीवन की प्रगतिशील संवेदनशीलता है-इंद्रिय-बोध है-ठोस वैचारिक दर्शन है। वह जीवन-दर्शन न उन्हें विगड़ने देता है-न उनकी कविता को।

वे प्रगतिशील तत्त्व आजतक साकार-संदेह-होने के लिए छटपटा रहे हैं। वे देश का सर्वाङ्गीण बहुमुखी विकास चाहते हैं-दसों दिशाओं में। ऐसा सम्भव नहीं हो रहा। जो हो रहा है, वह पुरानी व्यवस्था के हितार्थ में-उसके बने रखने के लिए-हो रहा है। नया भारत नीचे से उभर रहा है-अकूत शक्ति, और साहस के साथ। प्रभुत्वसम्पन्न

व्यक्ति इस नये भारत के नये उभार को, दण्ड और दमन से कुचल देना चाहते हैं, और मरणशील स्वधर्म की वही पुरानी व्यवस्था कायम रखना चाहते हैं। देश की राजनीति, मंत्र झाड़ने वालों की राजनीति हो गयी है।

तभी तो तब के वे प्रगतिशील तत्त्व आज भी जीवंत और सक्रिय तत्त्व हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तभी तो तब के उन तत्त्वों को समोये, तब की कविता, आज भी जीवंत और जागरूक लगती है।

तभी तो त्रिलोचन की तब की वे कविताएँ, आज भी जीवंत-तत्त्वों की प्रगतिशील सांस्कृतिक इकाइयाँ हैं।

तभी तो, तब की त्रिलोचन की वे कविताएँ, आज भी इश माहौल में विघटन के दौर में भी-आदमी से आदमी को जोड़ती हैं-आदमी से आदमी की कथा-व्यथा कहती हैं-आदमी से आदमी को सहानुभूति दिलाती हैं-आदमी की अभिव्यक्ति को, आदमी के लिए, आदमी की भाषा में, आदमी को आदमी बनाने के लिए कारगर सिद्ध होती हैं। उन्हें पुरानी पड़ गयी कहना-बेकार कहना-युगबोध से बहिष्कृत करना और उन्हें विस्मृति के गर्भ में फेंक कर उनसे पिंड छुड़ाना गलत है। वे कविताएँ, पुरानी पड़ती हैं, जो जीवन-विमुख होती हैं। त्रिलोचन के यहाँ ऐसी विमुखता नहीं है। उनकी रचनाएँ पुरानी नहीं पड़ीं।

प्रमाण में प्रस्तुत हैं, 'धरती' से ली गयीं, नीचे की कुछेक पंक्तियाँ :-

'विश्व हमारे भीतर-बाहर
इसी जगत् ने दी है वाणी
बादलों में लग गयी है आग दिन की
दो दिन पाहुन जैसे रह कर बादल चले गये
समझ-बूझ करके
इस ओर आ गया अब मैं
राह पा गया अब मैं
जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में कि फूल में
मिला है तो मिला है यह
मोल इसको अकेले कहा नहीं जाता
मौत यदि रुकती नहीं
तो जन्म भी रुकता नहीं
लौटने का नाम सत लो

इन दिनों मनुष्य का महत्त्व कोई नहीं है
छाती पर चढ़ा हुआ अंधकार का पहाड़ उतर गया
जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो-
चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती
हंस के समान दिन उड़ कर चला गया
दिवस की ज्योति हुई सरसों के फूल-सी
बल देता है प्यार तुम्हारा
प्रिये बड़े ही मनोयोग से' (पूरी कविता नहीं, अलग टुकड़े हैं)

मुझे याद है वह समय, जब 'धरती' प्रकाशित होकर, लोगों के हाथ में आयी थी। तब उसके प्रति लोगों में एक चाहना थी-उमंग थी, उसका स्वागत हुआ था। मैंने भी तब कुछ लिखकर त्रिलोचन को भेजा था। पता नहीं, वह उनके पास है या नहीं। मैं तो भूल ही गया कि, मैंने क्या लिखा था। अब आज वह ललक भले ही लोगों में 'धरती' की रचनाओं के प्रति न हो, मगर, ऐसा नहीं है कि, वह पढ़ी जायँ और कोई अर्थ न दें अथवा हृदयतल को स्पर्श न करें। कविता के आज के पाठक त्रिलोचन की वह रचनाएँ, अधिक समझ-बूझ से पढ़ते और समझते हैं और आज भी उनकी सराहना करते हैं। उनकी सराहना वही लोग नहीं करते, जो कविता को समाज से हटाकर, अपने मन मात्र की निजी सम्पत्ति बनाकर रखने के पक्षधर हैं। ऐसी-त्रिलोचन की स्वर वाली-कविताओं में कहीं गूढ़ता नहीं है-कहीं भटकाव नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि, 'धरती' की कविताएँ त्रिलोचन की डाल के पूर्णतया परिपक्व फल हैं। लेकिन, यह जरूर कहता हूँ कि, वह कविताएँ हैं और तब थीं और अब भी हैं। इन कविताओं में त्रिलोचन के काव्य के वे सब गुण मिलते हैं, जो क्रमशः विकसित हुए हैं और आगे की कविताओं में अपना पूर्णत्व पा सके हैं। इसलिए 'धरतीञ की महत्त्व है-आज भी है और आगे भी रहेगा। 'धरती' के बगैर, त्रिलोचन के सॉनेटों और गजलों को परखा नहीं जा सकता।

'गुलाब और बुलबुल' की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

'सर की लहरों से ही हिलता है कमल
सूर्य से जाम के मिलता है कमल
जल तो जल ही नहीं जीवन भी है
जल तो जल ही नहीं जीवन भी है
जल में रहकर ही तो खिलता है कमल

जो थके हैं, गिरे हैं, हारे हैं
उनका आत्मीय हूँ सगा हूँ मैं

मालिक अपना नहीं मजदूर हूँ मैं
उठ के आषाढ़ के मेघों की तरह
घेर के घिर के छा गये भौंरे
नौजवानी है अकड़ने के लिए
हवा मुट्ठी में पकड़ने के लिए
हम उसे मुक्त देखकर खुश हैं
तुम हो बेताब जकड़ने के लिए

सिर जो ऊँचा है वह रहे ऊँचा
एक ही आन है हिमालय की
जरा-सी जान सौ बलाएँ हैं
आखिर इन्सान करे भी तो क्या

बाघ बूढ़ा न कड़ा सोने का
लोग दलदल में फँसे-फँसते रहे
बिस्तरा है न चारपाई है
जिन्दगी खूब हमने पाई है

जिन्दगी कितनों की कटती है आस्माँ के तले,
एक छप्पर भी किसी से यहाँ छाया न गया।
मारे-मारे फिरते हैं उस्ताद अब तो देख लो,
मर्म जो समझे कहे पहले वही उस्ताद था।

आादमी में आदमीयत क्या रही,
पास में उसके अगर कञ्चन नहीं।
बोल ही में आदमी का मोल है,
बोल है आदमी निर्धन नहीं।

व्यर्थ भी आर से बड़े बनके,
तुम भी एकान्त में ढहोगे क्या।
देखादेखी भी जिया करते हैं,

वरना जीना हमें क्योंकर आया।
टूटी-फूटी जबान है अपनी,
देवताओं का कहाँ स्वर आया।

रोग रह जाय कहीं रोगी ही न छुट ले,
बैद्य मानवता के, बस कर, अधिक उपचार न कर।
लोभी लग लग के कट चली दीवार,
सूरत आई है घर के खोने की।
चीजें वही हैं आज भी,
य' क्या कि अब वो सतनहीं।

युवक थे हम भी, कहा बड़ों ने,
कि युवकों में अब विनय नहीं।
दु:ख हो, खेद हो निराशा हो,
जो हैं गायक के गान गाते हैं।

प्रेम में दिन-घड़ी नहीं कुछ भी,
व्यर्थ उसके लिए मुहूरत है।
मान रखने के लिए मरना है,
जीने का बस इसीलिए व्रत है।
कोई देखे या न देखे काम अपना हो गया,
घोर तम के देश में दीपक जला देता हूँ मैं।

न मध्याह्न की चौंध में भूल जाओ,
अँधेरा कहीं छाँह में पल रहा है।

कुछ बात है कि आज भी हारा नहीं हूँ मैं,
सौभाग्य और सिद्धि का प्यारा नहीं हूँ मैं।

सचाई भी हो और व्यापार भी हो,
मगर मैंने इनको इकट्ठा न देखा।

जवानी जो आई तो क्या धूम लाई,
गई तो गई उशका साया न देखा।

मैंने इनसान को देखा है रात में दिन में,
बात जो कहता हूँ अनुभव की है इलहाम नहीं।

बारी-बारी से इस धरातल पर,
अन्धकार और धाम होता है।

भरोसा तुम्हारा किया जो जरा-सा,
यही भूल की और आफत बुला ली।
लड़ते हैं इसलिए कि शैर राह नहीं है,
लड़ते रहेंगे युद्ध में क्या चीज हार है।

दुख भूल गये, पी गया अपमान भी कितने
मुझसे न कहो भूल के जीवन असार है।

जी में उठी उमंग नाव लके चल दिया,
देखा भी नहीं कोई कहीं कर्णधार है।
तुमको मैं ढूँढ़ किस तरह पाऊँ,
कुछ अँधेरा है कुछ कुहासा है।

लोग फूलें फलें विकास करें,
इसका अनुबंध राज का ही है।

जीते हैं आज हम त्रिलोचन यह
बल रगों में अनाज का ही है।

अपने चिथड़े समेट के बगल में रख छोड़े,
चीज दिखाने की नहीं उसमें दिखाऊँ तो क्या।
त्रिलोचन हँस के औरों को हँसाओ तब तो हम मानें,
यह दुनिया घर के घेरे में बहुत बँध-बँध के रो ली है।

कल की चिन्ता न करो, आज का जीवन जी लो,
आँखों के आगे है उपवन अभी हरा देखो।

जब नून-तेल-लकड़ी समस्या हो तब हुआ,
लेकर कला की कुछ निखार कोई क्या करें।'

इतनी पंक्तियाँ इसलिए उद्धृत की कि, बात साफ हो जाये कि, त्रिलोचन के प्रगतिशील तत्त्व उनकी कविता में हैं, और वह तत्त्व आज भी, इस युग में भी, ज्यों-के-त्यों प्रेरक हैं। त्रिलोचन ने गजलें क्यों लिखीं? मैं नहीं जानता। मुझसे उनसे इस संबंध में कोई बातचीत नहीं हुई। लेकिन, अन्दाज लगाता हूँ कि, हिन्दी और उर्दू को बहुत नजदीक लाने के ध्येय से, उन्होंने रुबाइयाँ और गजलें लिखी हैं। इसकी भी जरूरत थी। यहाँ दोनों जबानें एक-दूसरे के साथ काफी अच्छे ढंग से चली हैं। उर्दू की गजल हिन्दी में आयी, मगर, हिन्दी के उस रँग में रँगकर आयी, जो रंग हिन्दी को जन-जीवन में पैठकर मिला। इन गजलों में यह रंग नहीं उतरा, जो उर्दू का अपना अफसराना या शाहंशाहाना या खुशामदाना रंग था। यह न हुआ, अच्छा हआ। उर्दू और हिन्दी तभी मिल-जुलकर सार्वजनिक जीवन में जी सकती हैं, जब दोनों वहीं जियें, जहाँ रहीम जिये, वृन्द जिये, रसखान जिये, आलम और शेख जिये। अल्लाह के घर की उर्दू-भगवान् के घर की हिन्दी-दोनों ही आदमी के घर की जबानें नहीं हैं। अदबी उर्दू-महज अदबी-हिन्दी के गले नहीं मिल सकती। वैसे ही सांस्कृतिक-महज साहित्यिक-हिन्दी उर्दू के गले नहीं मिल सकती। दोनों ही हाथ से काम करनेवालों-सही दिमाग से सोचनेवालों-पास-पड़ोस में मिल-जुलकर रहनेवालों की ममता पाकर पनप सकती हैं। त्रिलोचन का यह प्रयास स्तुत्य है। माना कि, गजलें ऊँचे पैराये पर नहीं चलीं। पर, आदमी का साथ तो दे रही हैं। यही क्या कम है। इन गजलों की यही सार्थकता है। यही इनका रचनात्मक महत्त्व है।

अब 'दिगन्त' को लीजिये। सॉनेटों को देखिये। कुछेक उद्धरण देता हूँ।

भाषा की लहरें—

भाषाओं के अगम समुद्रों का अवगाहन
मैंने किया, मुझे मानव-जीवन की माया
सदा मुग्ध करती है, अहोरात्र आवाहन
सुन-सुन कर धाया-धूपा, मन में भर लाया,
ध्यान एक से एक अनोखे सब कुछ पाया,
शब्दों में, देखा सब कुछ ध्वनि-रूप हो गया,
मेघों ने आकाश घेरकर जी भर गाया,
मुद्रा, चेष्टा, भाव, वेग तत्काल खो गया,
जीवन की शय्या पर आकर मरण सो गया,
सब कुछ सब कुछ सब कुछ सब कुछ सब कुछ भाषा,
भाषा की अंगुलि से मानव हृदय रो गया
कवि मानव का, जगा गया नूतन अभिलाषा,
भाषा की लहरों में जवन की हलचल है,
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है,

अपराजेय—

हिन्दी की कविता, उनकी कविता है जिनकी
साँसों को आराम नहीं था, और जिन्होंने
सारा जीवन लगा दिया कल्मष को धोने
में समाज के, नहीं काम करने में छिन की
कभी किसी दिन, हिन्दी में सतरंगी आभा
विभव-भूति की नहीं मिलेगी; जन-जीवन के
चित्र मिलेंगे, घर के वन के सब के मन के
भाव मिलेंगे, बोये हुए खेत में डाभा
जैसे एक साथ आता है, कुछ ऐसे ही
वातावरण एक-से भावों से छा जाता
है, फिर प्राणों-प्राणों में एकत्व दिखाता,
नेह उमड़ आये तो दूर कहाँ है नेही?
भाव उन्हीं का सबका है जो थे अभावमय,
पर अभाव से दबे नहीं जागे स्वभावमय,

इन दोनों सॉनेटों में त्रिलोचनजी-जान से बोल उठे हैं। इनमें उनकी वाणी, उन्हें खोलकर प्रकट कर सकी है। इसलिए मैंने इन्हें पहले प्रस्तुत किया है। यही स्वर त्रिलोचन का अपना स्वर है। इसी स्वर से त्रिलोचन जाने-पहचाने जाते हैं। इसी स्वर के उतार-चढ़ाव में-इसी स्वर के प्रकाशन में-इसी स्वर की साधना में, त्रिलोचन का काव्यत्व अपनी प्रौढ़ता और मर्मज्ञता प्राप्त करता है।

इसी स्वर का एक तीसरा सॉनेट इस प्रकार है-

कस्मै देवाय

मैंने उनके लिये लिखा है जिन्हें जानता
हूँ जीवन के लिए लगाकर अपनी बाजी
जूझ रहे हैं, जो फेंके टुकड़ों पर राजी
कभी नहीं हो सकते हैं, मैं उन्हें मानता
हूँ आगामी मनुष्यताओं का निर्माता
कभी आत्मरक्षा से ही वह ज्योति जगी है
जिससे असत्-अँधेरे की सब शक्ति लगी है
थर-थर-थर काँपते, नये युग के उद्गाता
वे हैं जो हैं निपट निरक्षर लेकिन जिनकी
प्राणों की ललकार जानती कभी न रुकना,

जिनका आहत मान जानता नेक न झुकना,
स्पष्ट रूप-रेखा है उनको अपने दिन की-
क्रांति उन्हीं लोगों के पास पला करती है,
दुख के तम में जीवन-ज्योति जला करती है।

'अवतरिया', 'अपघात', 'भौजी', 'भिखरिया', 'बिल्ली के बच्चे', निवेदन', 'चित्र', 'मेंहदी और चाँदनी', 'जगदीश जी का कुत्ता', 'नया वर्ष', 'छुट्टा-बंधुआ', 'ध्वनिग्राहक', और 'पश्यन्ती' नाम के सॉनेटों में भी त्रिलोचन ने अपने कवि-कर्म को कमाल के साथ निबाहा है। ऐसा लगता है कि, जैसे सॉनेट हिन्दी का छंद है।

विदेशी सॉनेट विदेशी नहीं रह गया। यहाँ त्रिलोचन की भाषा देखते ही बनती है। जैसे, महाराज भगीरथ ने कभी गंगा प्रवाहित की थी, वैसे ही त्रिलोचन ने यहाँ भाषा की गंगा, (उसी ठाट से-श्रम से-साहस से-और सब की मनोभूमि को हरा-भरा करने के लिए) अब इस युग में प्रवाहित की है। यह बल और पौरुष की, विवेक और आस्था की सिद्ध सधी, सर्वजन-हिताय भाषा है। इसकी चाल में आत्मविश्वास है। इसके प्रवाह में निश्छलता है। इसकी ध्वनि में मृदंग की ध्वनि है। पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है कि जैसे, हरेक सॉनेट एक विशाल वटवृक्ष होकर छा गया है और मैं उसकी छाया में शीतल और स्वस्व हो गया हूँ। ऐसा भी लगता है कि, सॉनेट बरजिया घोड़ा बन गया है, जिसकी पीठ पर हाथ रखते ही, बिछलता है और जो सरपट दौड़ में ध्वनि-ही-ध्वनि गूँजती छोड़ जाता है। ऐसा भी लगता है, सॉनेट नहीं, सरोवर में धँसे हाथी खड़े हैं-निकलते सूरज के रंग में अनुरंजित सूँड़ों से जल की फुहार छोड़ते और सिर से पैर तक मणिमुक्ताओं से अलंकृत। ऐसा भी लगता है कि, हरेक सॉनेट देश की देह बनकर-तनकर-खड़ा है कि, कोई भी उससे हार सकता है।

निश्चय ही त्रिलोचन ने सॉनेट लिखकर, हिन्दी का बड़ा हित किया है। इसकी देह में भाषा अपनी समस्त शक्तियों को उद्भासित करती है। वह आवर्त्तों में चलती है। वह रुक-रुककर बोझा लिए भी आगे बढ़ती है। वह चलचित्र की तरह दृश्यों को झलकाती चलती है। वह स्वाभिमान के तेज और तेवर से तरेरती हुई भी चलती है। वह मित्र की तरह गले लगकर लिपट जाती है। वह अचूक मार मारती है।

मैं तो समझता हूँ कि, यदि त्रिलोचन सॉनेटों में कोई लम्बी कविता लिखें, तो वह निश्चय ही, सबसे जानदार साबित होगी। भाषा को तो त्रिलोचन ऐसे चलाते हैं, जैसे कोई महावत हाथी को चलाये। क्या मजाल कि, हाथी हाथ से बाहर निकल जाये, और किसी प्रकार का कोई अनर्थ हो जाये।

अब आज जब सब दफ्तर के बाबू हो गये हैं-छोटे-बड़े नगरों में खोये हुए, और खाये गये हैं-जनता से कट-कटा चुके हैं-बोलने में बुदबुदाते हैं-लिखने को कविता लिखते हैं, मगर कविता नहीं लीबर लिखते हैं, नये-नये वाद-विवाद के चक्कर में डालडा के खाली डिब्बे पीटते हैं-करते कुछ नहीं, कॉफी हाउस में बकवास करते हैं/-

पराये की नकल में अकल खर्च करते हैं-और कविता को अपनी तरह बेकार और बेजान बनाते हैं-और भाषा को तो चीरफाड़ कर चिथड़े-चिथड़े कर देते हैं-

तब त्रिलोचन की और उनके सॉनेटों की और उनकी शक्ति सम्पन्न भाषा की हमें और देश को, और हमारे काव्य को, बहुत आवश्यकता है कि, वह और भी लिखें-और भी अपनी तरह का दें:और भी गम्भीरता और दृढ़ता की भाषा गढ़ें, और जन-जीवन के जागरूक, जीवंत और स्थायी मानदंड की अछूती काव्य-कृतियाँ दें।

अभी त्रिलोचन की कविताओं का सही मूल्यांकन नहीं किया गया। जो कुछ भी इधर-उधर लिखा गया है, वह इतना कम है कि न के बराबर है।

त्रिलोचन की कला औरों की कला से भिन्न है। उनकी कला में यथार्थ-परकता, आत्मपरकता तक पहुँच कर भी, वहाँ विलुप्त नहीं हो जाती, और नहीं असम्बद्ध और अनजान आत्मपरकता बन जाती। वैसी आत्मपरकता जैसी दिमाग में बन्द बौद्धिक लोगों की होती है, त्रिलोचन के यहाँ न मिलेगी। वैसी आत्मपरकता खोखली होती है। त्रिलोचन के यहाँ तो यथार्थ ही आत्मपरक होकर दिमाग से बाहर निकलता है और रचनात्मक यथार्थ का रूप लेकर प्रकट होता है। दूसरे तथाकथित बौद्धिक 'अहंवादियों' के यहाँ दिमाग का कूड़ा-कबाड़ा ही बाहर निकलता है, जो यथार्थपरक तो होता ही नहीं-महज असम्बद्ध एकाकी विगलित आत्मपरकता होती है। इससे बड़ा अन्तर पड़ जाता है और काव्य की कृतियों का कथ्य और शिल्प ही बदल जाता है। विगलित आत्मपरकता यथार्थ को त्याग देती है-यथार्थ के लोक को नकार देती है-यथार्थ से जुड़ी भाषा को, जड़ समझ कर, दूर फेंक देती है-यथार्थ से जन्म ले रही और बढ़ रही मानवता को देखती तक नहीं और उसे मूल्यहीन समझती है, इसके विपरीत त्रिलोचनवाली आत्मपरकता कहीं भी यथार्थ से नहीं कटी। यथार्थ भी यहाँ आत्मपरक होकर और भी उत्तेजक, उत्प्रेरक और समर्थशील हुआ है। तभी, यहाँ, उनकी कविताओं में व्यक्त आत्मपरकता मानवी सम्बन्धों और सहानुभूति की आत्मपरकता हो गयी है और जन और जीवन के यथार्थ का मानवीय मूल्य हो गयी है। त्रिलोचन की प्रगतिशीलता इसी में सन्निहित है।

मैं यही कहूँगा कि, लोग उन्हें पढ़ें और तब उनकी कृतियों का मूल्यांकन करें।

❐

अनुवाद के संदर्भ में मौलिकता

एक भाषा की मूल कृति का अनुवाद जब दूसरी भाषा में किया जाता है, तब एक कृति के बजाय दो कृतियाँ हो जाती हैं: एक मूल कृति और दूसरी अनूदित कृति। दोनों में यथासंभव वही कलेवरीयसाम्य मिलता है। शिल्प के स्तर पर दोनों में लगभग वैसा ही शिल्प रहता है। फिर भी यह देखा गया है कि कलेवरीयसाम्य तो अपने मूलरूप में सुरक्षित रहता है, परन्तु मूलशिल्प अनुवाद की स्थिति में बदल जाता है और वह अनुवाद की भाषा के अनुरूप शिल्प पा लेता है। अनुवादक को कलेवरीयसाम्य सुरक्षित रखने में कम-से-कम कष्ट और श्रम करना पड़ता है। शिल्प के सुरक्षित रख सकने की दिशा में ही अनुवादक को दोहरा कष्ट और श्रम करना पड़ता है। एक ओर वह मूल रचना की शिल्पगत विशिष्टताओं को आत्मसात् करता है और आत्मसात् करने में भाषा के स्तर पर कई तरह से संघर्ष करता है। दूसरी ओर वह संघर्ष से उपलब्ध विशिष्टताओं को अपनी भाषा की तद्नुरूप विशिष्टताओं से संपृक्त करने में कई तरह से पुनः संघर्ष करता है, और ऐसा करने में, अपनी मौलिकता के बलपर, नया सम्प्रेषणीय शिल्प प्रस्तुत करता है। उपन्यास को लीजिए। अनुवाद के संतरण-काल में मूलकृति का कलेवरीय गठन अपने समस्त घटनाक्रम सहित उसी प्रवाह के साथ लयबद्ध होता हुआ दूसरी भाषा के तदनुरूप कलेवरीय गठन में उसी घटनाक्रम के सहित व्याप्त होता है। अनुवादक को मूल-कृतिकार की तरह उपन्यास की कथावस्तु को संयोजित करने की पीड़ा से नहीं गुजरना पड़ता। वह पका-पकाया माल पा जाता है। उस पके-पकाए माल को ही वह सहज ही अपने अनुवाद की भाषा में ज्यों-का-त्यों रख देता है।

इसे रखने में उसे अपनी आत्मपरकता का कम-से-कम उपयोग करना पड़ता है। परन्तु जब अनुवादक उपन्यास के अनेकानेक आत्मपरक स्थलों को अपने अनुवाद की भाषा में उतारकर रखता है, तब उसे मौलिक कृतिकार की तरह ही वैसा ही आत्मगत संघर्ष करना पड़ता है, जैसा आत्मगत संघर्ष मौलिक कृतिकार को करना पड़ा था। एक भाषा में व्यक्त हुई आत्मपरकता कभी भी सहज ही दूसरी भाषा की आत्मपरकता में संतरण करती हुई नहीं देखी गई। तभी आत्मपरकता की वैसी ही अभिव्यक्ति करने के लिए अनुवादक को मूल कृतिकार की तरह ही उसी रचना-प्रक्रिया के बीच से होकर गुजरना पड़ता है, जिससे मूल कृतिकार गुजर चुका होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि एक भाषा की आत्मपरकता दूसरी भाषा की आत्मपरकता में संतरण करने के लिए नये शाब्दिक मूर्त-विधान को तभी आत्मीय ढंग से अपनाती है। जब वह नये मूर्त-विधान में अपने को भरपूर सुरक्षित रखकर प्राणवंत होती है। इसलिए यह कहना

न्यायसंगत होगा कि उपन्यास की आत्मपरकता के स्थलों पर मौलिक कृतिकार और अनुवादक एक-दूसरे के समकक्षी होते हैं। इसी बात को दूसरी तरह से अब यों देखिए। मूल कृतिकार जब अपने उपन्यास के आत्मपरक स्थलों को दूसरी भाषा में स्वयं अनूदित करता है, तब उसे दुबारा उसी पहली रचना-प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जिससे वह एक बार पहले गुजर चुका होता है। अतएव अनुवादक को भी साहित्य में वैसा ही स्थान मिलना चाहिए , जैसा स्थान वहाँ मौलिक रचनाकार को मिलता है।

उपन्यास के अतिरिक्त गद्य की और विधाओं को लीजिए। ललित निबन्धों के सफल अनुवाद की समस्या कभी भी सहज ही अथवा कम कष्ट और श्रम से हल नहीं होती। यहाँ भी अनुवादक को उतने ही कष्ट और श्रम से गुजरना पड़ता है, जितने कष्ट और श्रम से मौलिक निबंधकार को गुजरना पड़ चुका होता है। ललित निबंधों में मौलिक निबंधकार अधिक-से-अधिक आत्मपरकता का उपयोग करता है। लेकिन उपयोग करते समय निबंध की वस्तुवत्तीय सामग्री से तनिक भी विच्छिन्न नहीं होता। होता यह है कि ललित निबंधकार अपनी वस्तुवत्तीय सामग्री को अपनी विशिष्ट आत्मपरकता से वशीभूत कर सकनेवाली कृति बना देता है। इसलिए यहाँ पर भी मौलिक ललित निबंधकार और उसके निबंधों का अनुवादक कृतिकार समकक्षीय ही हो सकते हैं। उस अनुवादक को ललित-मौलिक निबंधकार से कम का दर्जा देना किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं हो सकता। हाँ, उन अनुवादकों की बात और है जो पत्रकारिता के क्षेत्र में रहकर दिन-प्रतिदिन घटनेवाली घटनाओं की प्राप्त सूचनाओं का अनुवाद किया करते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार से मौलिक गद्यकार नहीं कहा जा सकता। उन्हें मौलिक गद्यकार कहना रचना-धर्मिता को नकारने के बराबर होगा। मौलिकता वस्तुवत्तीय विवरण देने में नहीं होती। मौलिकता तभी मौलिकता होती है। जब वह आत्मपरकता से सम्बद्ध और संपृक्त होती है और एक नई इकाई बनकर दूसरों के लिए संवेदनशील होती है।

अब कविताओं के अनुवादकों को लीजिए। यहाँ भी मौलिक कृतिकार और उसकी रचनाओं के अनुवादक कृतिकार में कोई विशेष अंतर नहीं होता। दोनों समकक्षीय कहे जा सकते हैं। कविता जागतिक वस्तुवत्ता से सम्बद्ध और संपृक्त होकर मूलत: रचना-प्रक्रिया से प्राप्त आत्मपरकता की संश्लिष्ट इकाई या यष्टि होती है। कविता में कलात्मकता की विशिष्टता भी परिव्याप्त रहती है। कविता अपने-आप में एक अविश्लेष्य अन्विति होती है। इसलिए कहा भी गया है कि कविताओं का अनुवाद नहीं किया जा सकता। कुछ हद तक यह बात किन्हीं कविताओं के विषय में ठीक हो सकती है। परन्तु आमतौर से इस बात को पूर्णसत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। सिद्धहस्त अनुवादकों ने अनेकानेक उच्चस्तरीय श्रेष्ठ कविताओं के वैसे ही सफल और श्रेष्ठ अनुवाद प्रस्तुत करके यह पूर्णतया प्रमाणित कर दिया है कि कठिन-से-कठिन कविताएँ भी अनूदित होकर नई भाषा में अपना कथ्य और शिल्प भरपूर

अक्षुण्ण रख सकी हैं। वास्तव में यदि इन सफल अनूदित कविताओं को नई कविताओं की संज्ञा दी जाए तो कोई अन्याय न होगा। अनूदित होकर प्रत्येक कविता स्वभावतया नई कृति बन ही जाती है। अतएव इन अनुवादकों को भी मूल कविताओं के रचयिताओं के समकक्ष ही रखना श्रेयष्कर होगा।

अब नाटकों के अनुवादकों के विषय में भी विचार कीजिए। पहले के नाटकों में गद्य और पद्य दोनों होते थे। अब के नाटकों में मुख्यतया गद्य-ही-गद्य रहता है। ऐसे भी नाटक लिखे गये हैं, जिनमें पद्य-ही-पद्य रहता है अथवा कविता-ही-कविता रहती है। दृश्य और श्रव्य को प्रस्तुत करनेवाले नाटकों के अनुवाद में भी उनके अनुवादकों को उसी स्तर की मौलिकता से काम लेना पड़ता है, जिस स्तर की मौलिकता से मूल नाटककारों ने काम लिया होता है। नाटक की कथावस्तु तो बन चुकी होती है और वही बन चुकी हुई कथावस्तु अनुवाद में भी सुरक्षित रक्खी मिलती है। अनुवादक उस कथावस्तु को वैसे ही रखता है। उसे कोई अधिकार नहीं होता कि वह उसे घटाए या बढ़ाए अथवा उसके संघटन को तोड़े या मरोड़े। नाटक के अनुवाद करने में अनुवादक को सबसे अधिक परेशानी तब उठानी पड़ती है। जब वह उसके कथोपकथन के घात और प्रत्याघात को अपनी भाषा के प्रवाह में बनाए रखने के लिए लगा होता है और मार्मिकता को अपनी भाषा की संप्रेषणीयता प्रदान करता होता है। यही नहीं, वचनों में अभिव्यक्त पात्रों की आन्तरिक मनोदशा की वक्रता भी अनुवादक से यही अपेक्षा करती है कि वह उस वक्रता को उसी स्तर पर अपनी भाषा में ला कर वैसे ही साधिकार अभिव्यक्ति दे। कभी-कभी नाटकीयता वस्तुवत्तीय और आत्मपरकता के दोनों स्तरों पर इतनी तीव्र और क्षुर होती है कि उसे दूसरी भाषा की पकड़ में लाना दुष्कर हो जाता है। ऐसी स्थिति में भी अनुवादक को मूल नाटककार की तरह ही मौलिकता से काम लेना पड़ता है। अलावा इसके, वचन विदग्धता कथ्य में समाहित शिल्प से व्यक्त होनेवाली सांकेतिकता और सूक्ष्म अमूर्तन (Abstraction) को अपनी भाषा में उतारने के लिए अनुवादक को अथक मौलिक रचनात्मक संश्लेषण और विश्लेषण से काम लेना पड़ता है। जो अनुवादक यह सब काम सही प्रकार से अपने अनुवाद में सिद्ध कर लेता है, वह अनुवादक उतना ही मौलिक कृतिकार होता है, जितना मूल नाटककार अपने नाटक का कृतिकार होता है। प्राचीन नाटकों के अनुवाद करने में आज के अनुवादक को तब के युग के संदर्भ में मूल नाटककार के साथ जीना पड़ता है और तब की परिस्थितियों से नाता जोड़ना पड़ता है और फिर उस नाटकीय कथावस्तु को सुदूर अतीत से अपने युग में लाकर आज की युगीन भाषा में संप्रेषणीय बनाना पड़ता है। यहसब काम कोई साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। वही अनुवादक सफल होता है जो दोनों भाषाओं का मर्मज्ञ होता है और जो नाटकों के पात्रों के साथ, उनके आंगिक, वाचिक और मानसिक रूपों को अपनाकर, एक हो जाता है। इसलिए नाटकों के अनुवाद करने में अनुभवजन्य मौलिकता की शत-प्रतिशत आवश्कता होती है। अनूदित कविता के समान ही अनूदित नाटक भी एक नई मौलिक इकाई बनकर प्रस्तुत होता है।

दर्शनशास्त्र की पुस्तकों के अनुवाद करने में भी अनुवादक को परिश्रम करना पड़ता है। उसका वह परिश्रम उनमें व्यक्त विचारों के समझने में और उनको अपनी नई भाषा में उतारने में होता है। दार्शनिक विचारों की मौलिकता का श्रेय अनुवादक की मौलिकता को नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार ज्ञान से संबंधित पुस्तकों के अनुवाद में भी अनुवादक को मौलिक होने का श्रेय नहीं प्राप्त हो सकता। न्याय से सम्बन्धित पुस्तकों के अनुवाद करने में भी अनुवादक मौलिक होने का दंभ नहीं कर सकता। इन सब प्रकार की पुस्तकों के अनुवाद करने में अनुवादक केवल विद्वान भाषाविज्ञ की तरह काम करता है। ऐसे अनुवाद करने की क्रिया की तुलना एक गिलास से दूसरे गिलास में पानी या दूध उड़ेलने की क्रिया से की जा सकती है। यहाँ भाषा शरीर का काम करती है। इसलिए अनुवाद भाषा के एक शरीर को दूसरी भाषा का शरीर देता है। इसलिए मौलिकता का यहाँ पर अभाव रहता है। इसलिए साहित्य में अनुवादकों को भी वही श्रेय और सम्मान प्राप्त होना चाहिए जो मौलिक कृतिकारों को प्राप्त होता है। तभी प्रान्त-प्रान्त की भाषाओं का रचनात्मक साहित्य हिन्दी में उपलब्ध हो सकेगा और इससे देश की आत्मीय एकता और अखंडता स्थापित हो सकेगी। विश्व के साहित्य के ग्रन्थों का भी इसीलिए हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए, ताकि देश का जन-मानस विश्व के जन-मानस से जुड़कर दुनिया को एक सूत्र में बँधा-सधा देख सके।

❐

सत्य के समर्थ और साहसी व्यंग्यकार : हरिशंकर परसाई

देव, दानव और मानव शुरू से व्यंग्य को इस्तेमाल करते रहे हैं। ऐसा कोई कालखण्ड इतिहास में नहीं रहा, जिसमें व्यंग्य के बाण न छूटे हों। पहले बली, न बलीन के विरुद्ध व्यंग्य से अट्टहास करते और ईर्ष्या और द्वेष से वाक्मुखर होते हुए व्यंग्य के बम-विस्फोट करते थे। उन्हीं की देखा-देखी, निर्बल और पीड़ित भी, आपस में मिल बैठकर, बलीन के खिलाफ, और अपनी बिरादरी में, खुले-खजाने अपने जैसों के खिलाफ कभी धीमे से कानाफूसी करते और कभी ऊँची आवाज से काँव-काँव करते और अपने मन की भड़ास, फूहड़ फब्तियाँ कस-कसकर, निकालते। औरतें भी औरतों के खिलाफ और नामजद पुरुषों के खिलाफ, वैसे ही, मर्माहत स्वर और मुद्रा में, कनकनाती और झनझनाती हुई कर्कश कोलाहली आक्रमण करती थीं और ऐसा करने में वे पुरुष-जाति से किसी मायने में भी पीछे नहीं रहती थीं। जन-जीवन में व्यंग्य उसी तरह जीता-मरता चला आया है, जिस तरह जंगल में बड़े नाखूनों और दाँतोंवाले डरावने जानवर, तबसे अबतक, बराबर जीते-मरते चले आते हैं। साहित्य में—संस्कृत साहित्य में—प्राकृत और अपभ्रंश में भी—और फिर हिन्दी में यह व्यंग्य लिपिबद्ध होकर पाठकों के सामने मनोरंजन करने के लिए, प्रकट होने लगा। नाटकों में इसके लिए विशेष पात्रों की अवतारण की गयी। चुटकुलों के रूप में भी यह व्यंग्य, कहासुनी के रूप में, मुँह से कान तक की यात्रा करता रहा। लोकमंचीय प्रदर्शनों में भी यह, कभी अपनी खुश-मिजाजी, कभी अपनी बदमिजाजी का दम भरता रहा। जैसे-जैसे आदमी और उसका समाज सहज साधारण से जटिल बुनावट को बुनता चला गया, वैसे-वैसे व्यंग्य महाराज भी अपनी मुद्राएँ बदलते चले गये और सतही प्रहार करने के प्रयोग को छोड़कर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शस्त्रास्त्र का उपयोग करने लगे और बौद्धिकता की ओर बढ़ते-बढ़ते, शिल्पी के ओहदे पर पहुँचकर, तर्क-वितर्क से उलझाव उत्पन्न करने लगे और इस तरह युगीन कहानियाँ, उपन्यासों और नाटकों में, ताजे-ताजे तर्क और तेवर से वाक्योच्चार करने लगे। इस तरह होते-होते व्यंग्य का एक सामाजिक और ऐतिहासिक परिदृश्य तैयार हो गया, जो बड़ा ही महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

लेकिन, इस सबके अपने विकास के बाद भी व्यंग्य, सत्य की सही पकड़ नहीं कर पाता था, क्योंकि वह वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से कोसों दूर केवल मानववादी परिकल्पनात्मक जीवन-दृष्टियों से उत्पन्न होता और बड़ा होकर भ्रमों की भूल-भुलैया में नाचता रहता था। तो व्यंग्य—आज का व्यंग्य अब पहलेवाला व्यंग्य नहीं रहा। वह

प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त और संज्ञान की सटीक दृष्टि से लैस होकर, अपनी दूरबीनी आँख से जन-जीवन में चौतरफा घट रहे घटनाचक्रों को देखता-परखता और आँकता है और फिर जनहित में, सही समझ का विचार-विमर्शी सत्य प्रेषित करता है। यह युगीन व्यंग्य महान् मानवीय गुणों की सेवा में संलग्न रहता हुआ अपने दायित्वों का पूरा-पूरा निर्वाह करता है और आदमी को सत्य की ओर ले चलता है। यह ठहाका मार व्यंग्य की सीमा तोड़कर, अजनबी बौद्धिकता के दाँव-पेंच से निकल कर, क्षणिक मनोरंजकता की छिंगुली छोड़कर, पूरा प्रतिबद्ध व्यंग्य हो गया है और इसका क्षेत्र पूरे मानव-जीवन का क्षेत्र हो गया है। अब यह व्यंग्य चोट के लिए चोट नहीं करता, बदमिजाजी से आदतन आक्रमण नहीं करता, किसी के स्वार्थ-साधन के लिए दास-प्रवृत्ति के वशात् न दूसरों को नंगा करता है, न खुद नंगा होता है। यह व्यंग्य बेलौस, निर्भीक, सच का साथी, झूठ का दुश्मन और लुके-छिपे हुए तथाकथित अभिजात्यवर्गीय शक्तिसम्पन्न महाप्रभुओं की कलई खोलनेवाला व्यंग्य है, और दलित, दमित और पीड़ित दीन-हीन शोषितों को आँख देनेवाला और करनी से समाज को बदलने का और राजनीति को समाजवादी बनाने के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। हरिशंकर परसाई के व्यंग्य यही सब करते हैं। इसलिए वे दूसरे व्यंग्यकारों से अलग राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हैं, और इसी में उनकी लोकप्रियता निहित है।

मैंने परसाई जी की एक पुस्तक पढ़ी है। वह है 'पगडंडियों का जमाना' इसका प्रथम संस्करण 1966 में निकला।

'पगडंडियों का जमाना' के शीर्षक हैं—हम, वे और भीड़; प्राइवेट कालेज का घोषणा-पत्र; सज्जन, दुर्जन और काँग्रेस-जन; प्रजावादी-समाजवादी लोहियावादी; समाजवादी प्रेमप्रसंग में फादर; सोने का साँप; टेलीफोन; समय पर न मिलनेवाले; वह जरा वाइफ हैं न; चावल से हीरे तक; बेचारा भला आदमी; स्नान; पगडंडियों का जमाना; आँगन में बैंगन; फिर ताज देखा; अन्न की मौत; एक बेकार भाव, पेट का दर्द; भार देश का, कंधे श्रवण कुमार के; सड़क बन रही है; डेगूँ; अध्यात्म और लेखक और ग्रीटिंग कार्ड और राशनकार्ड। इन शीर्षकों से ही यह पता चल जाता है कि परसाई जी की व्यंग्य-चेतना ऐसी-वैसी छोटी-मोटी नहीं है, बल्कि वह सब जगह व्याप्त गहरी और दृष्टिभेदी है। परसाई जी जिधर जाते हैं, उधर सत्य की टोह में चुपचाप सरकते हैं या छलाँग मारकर या सी०आई०डी० बनकर पहुँच जाते हैं। न उन्हें कोई रोक पाता है और न ही वे रुकना जानते हैं। जहाँ पहुँचते हैं वहाँ या तो किसी सर्जन की तरह मरीज का दिमाग दुरुस्त करने के लिए ऑपरेशन करते हैं या नारद की तरह किसी की नाक कटवाकर उन्हें नेकनाम होने की प्रेरणा देते हैं या इतिहासकार की तरह घटनाचक्र को तोड़ते हुए राजनीतिक गतिविधियों की सही समझ प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करने में न तो वह बात का बतंगड़ बनाते हैं, न तिल का ताड़ बनाते हैं, न सत्य का मुखौटा लगाकर असत्य का चिमटा बजाते हैं। ऐसा क्यों करते हैं कि लोग उनसे नाराज हो जाते हैं और वे लोगों की नाराजगी का भी कोई लिहाज नहीं करते और मार खाकर भी सफेदपोशों और

नकाबपोशों को, सरेबाजार लू-लू बोल देते हैं और मजा यह कि वे खुद इसका मजा नहीं लेते, वरन् देश की दयनीय दशा से सम्बद्ध हुए, समाजवादी चेतना की दृष्टि से उसे देख-देखकर तड़पते और कराहते रहते हैं कि आदमी जल्दी-से-जल्दी आदमी बने और वह न देव बनने का बहाना करे न दानव बनकर दूसरों का शोषण और अपहरण करे और न कोई किसी की खटिया खड़ी करे।

एक जगह वे लिखते हैं–'देश एक कतार में बदल गया है। आधी जिन्दगी कतार में खड़े-खड़े बीत रही है।' दूसरी जगह वे लिखते हैं–'कुछ लोगों ने अपनी कली-कालीन भैंसें आजादी की घास पर छोड़ दीं और घास उनके पेट में जाने लगी। तब भैंसवालों ने उन्हें दुह लिया और दूध का घी बनाकर फिर हमारे सामने ही पीने लगे।' विशिष्ट बनने की तरकीब बताते हुए परसाई जी लिखते हैं–'भीड़ के आदमी को बकरे की या कुत्ते की बोली बोलने लगना चाहिए। वह एकदम विशिष्ट हो जाएगा और एकदम सबका ध्यान खींच लेगा।' लेखकों के विषय में लिखते हैं कि 'लेखकों के चोरी करने वाले कई गिरोह हैं। वे भीड़ में शिकार को तोड़ते रहते हैं और किसी बहाने उसे भीड़ से अलग करके अपने साथ किसी अँधेरी कोठरी में ले जाते हैं। वहाँ उसके हाथ-पाँव बाँधकर मुँह में कपड़ा ठूँस देते हैं। तब स्वतंत्र चिंतक सिर्फ घो-घो की आवाज निकाल सकता है। गिरोहवाले उस घो-घो में सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य निकालकर बता देते हैं, उसे तत्त्वज्ञान सिद्ध कर देते हैं।' यह मर्मबेधी कचोट है, जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य के हिमायतियों और सौंदर्य-शास्त्रियों पर की गई है। आगे चलकर कॉफी हाउस में बैठे भीड़ से बचे लेखकों के विषय में कहते हैं कि 'लेखक की हालत खस्ता है।' सबके साथ होने में उसकी विशिष्टता नकारी जाती है। वह कहता है 'कोई हमें भीड़ से बचाए। ' राजनीति से नफरत करनेवाले तथाकथित लेखकों पर भी फब्ती कसते हैं। वयोवृद्ध होनेपर लेखकों को पुरस्कार और आर्थिक सहायता दी जाती है, तो इसपर भी परसाई जी एक लाजवाब प्रश्न करके ऐसी व्यवस्था के मुँह पर तमाचा जड़ते हैं। वे कहते हैं– 'पुरस्कार या आर्थिक सहायता रचना करने के लिए मिलती है या रचना बन्द करने के लिए! मुख्यमंत्री के आस-पास तीन आदमियों में स्पर्धा चल रही थी कि उनमें से कौन उनके कोट की किस जेब में घुस जाय? कोट में दो जेबें थीं। दो आदमी दोनों जेबों में घुस गये। तीसरा आदमी हाय करके बोलता है, अगर मुख्यमंत्री पतलून पहने होते तो वह उनकी उस जेब में घुस जाता। यह है चमचों का हाल, जो मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों के पाले-पोसे समाज को दूषित किए रहते हैं।'

आजकल प्राइवेट कालेज बहुत खोले जा रहे हैं और बहुत-से खुल गये हैं। कालेज खोलना व्यापार हो गया है–खोलनेवाले के परिवार का नाम उजागर होता है और यह लोक भी बनता है और परलोक भी बनता है। कालेजों में जो अध्यापक और नौकर-चाकर रखे जाते हैं, वे भी खोलनेवाले के यहाँ बिना किसी उजरत के कामकाज में मदद देते रहते हैं और कालेज में लगाई गयी रकम वही रकम होती है, जो इनकम टैक्स में चली गयी होती है। ऐसी संस्थाओं को आदर्श संस्था कहकर घोषित किया जाता है और

परसाई जी इन्हें देखकर तिलमिला उठते हैं। वे बरदाश्त नहीं कर पाते कि शिक्षा-संस्थाओं का इतना देश-व्यापी अध:पतन हो। तभी वे ऐसी संस्थाओं के 15 चालू सिद्धान्त और नियम प्रस्तुत करते हुए इनकी वर्तमान स्थिति की पूरी-पूरी जानकारी से आप पाठक को अवगत कराते हैं कि वह पोलखाते को देखें और उसके खिलाफ अपनी आवाज उठायें। यह खिल्ली उड़ाना नहीं, दायित्व-निर्वाह के इरादे से किया गया व्यंग्य है। इसकी कद्र करनी चाहिए, न कि इसे हँसकर टाल दिया जाये, और शिक्षा-संस्थाओं को पैसा कमाने का अड्डा बना रहने दिया जाय। शर्म आती है इस प्रचलित व्यावसायिक वृत्ति पर। बेचारा व्यंग्यकार इससे अधिक कर ही क्या सकता है! वह किसी की आँख के सामने से अँधेरे का परदा हटा सकता है—किसी को नाक के नीचे घूरे को सूँघने के लिए विवश कर सकता है—किसी को चिकोटी काटकर जगा सकता है—किसी को चल रहे षड्यंत्र से परिचित करा सकता है। इसकी जरूरत व्यंग्यकार को इसलिए होती है कि आम आदमी इन विसंगतियों को अपने-आप देख नहीं पाता और वह इनको नजरअंदाज किये रहने का अभ्यस्त हो चुका होता है। परसाई जी जीवन के भीतर के जागरूक व्यंग्यकार हैं। वह हर जोर-जुल्म के ठौर-ठिकानों को जानते हैं—वे हर दर्द के होने का कारण भली प्रकार से खोज निकालते हैं—वह माहिर हैं टटोल-टटोलकर छिपी हरकतों को दबोच लेने में और उन्हें तार-तार कर देने में। यह काम न उपदेशक कर रहे हैं—न नेता कर रहे हैं—न विद्वान् और बौद्धिक कर रहे हैं—न सामाजिकजन कर रहे हैं—न कवि-लेखक कर रहे हैं। सब-के-सब धैर्य धारण किये अपनी-अपनी रोजी-रोटी कमा रहे हैं और यथास्थिति के कायम बने रहने में ही सुख-सुविधा प्राप्त किये रहने की संभावना देखते हैं। परसाई जी का व्यंग्य सामाजिक जीवन को चरमरा देनेवाला व्यंग्य है, नयी चेतना का, उन्मेष का और आक्रोश का व्यंग्य है। इनका व्यंग्य भभूतिया बाबा का वरदानी व्यंग्य नहीं है। वैज्ञानिक और आलोचनात्मक चेतना का जन-हिताय मानवीय विवेक का व्यंग्य है। परसाई जी का सानी कोई नहीं है।

त्याग और तपस्या के मूर्त-स्वरूप पुराने गाँधीवादी अपने को आज भी महान् अवतारी पुरुष मानते हैं। लेकिन निहायत घटिया करनी करते हैं कि हैरत होती है। ऐसे गाँधीवादी की गरदन पकड़ते हैं परसाई जी और उसे ज्यों-का-त्यों अपने शब्दों में सटीक उतारकर रख देते हैं। वह खादी को 'खादी जी' तकली को 'तकली जी' और चर्खा को 'चर्खा जी' कहता है। 'खादी जी' की पूजा करता है। आराम बेहद पसन्द करता है। गाल भर-भर कर बीसों बीड़े पान चबाता है, तब फिर कुछ बात करता है। अपने को दलबन्दी से अलग रखता है। पण्डित नेहरू का अनुयायी घोषित करता है, पर सिद्धान्त उनका एक भी नहीं मानता है और न ही ज्वलंत राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से अवगत है कि अपनी कोई सही राय व्यक्त कर सके। वह ऊपरी तामझाम से वाकिफ है, तभी तो शेरवानी पहनकर उसमें गुलाब का गुलदस्ता खोंसे रहने तक ही रह जाता है। फिर भी वह नेहरू के सिद्धान्तों का समर्थक और साधक समझने की सबसे बड़ी भूल करता है और उसी भूल में भूला न देश को देखता है, न अपनी करनी को, वह पार्टी में

नयी जीवन-शक्तियों के समाहित होने को न्यायसंगत नहीं, वरन् अनौचित्यपूर्ण समझता है। वह तो अपना कर्तव्य इस बात में ही समझता है कि उस जैसा पुराना नेता ही जुआ खेलने में पकड़े गये व्यक्ति को पुलिस की गिरफ्त से छुड़वा सकने में सफल हो सकता है, न कि नया आया, पार्टी में भरती हुआ आज का कोई नेता। यह लक्ष्य और उद्देश्य भ्रष्ट; मनोवृत्ति अत्यंत घृणित है। जनसंघ का विरोध भी किसी सिद्धान्त से नहीं बल्कि जातिवाद से करता है। जनसंघ हिन्दूवाद का नारा देता है तो वह जातिवादी नारा-ब्राह्मणवाद को सही करार देता है। और मजा यह कि इसपर गर्व से ठहाका लगाता और सही होने की डींग मारता है। उसकी एक और भी प्रवृत्ति है। वह दिनोंदिन ऊँचा-से-ऊँचा होने का दावा करता है, जोकि कोई भी ऊँची करनी नहीं करता। वह नकली ऊँचाई प्राप्त करने में ही सुख-संतोष पा लेता है। वह तकिये पर खड़ा होकर बाँहें ऊपर फैला देता है और गाँधी जी और जवाहरलाल नेहरू की जय-जय करता है। वह एक नयी ऊँचाई पर पहुँचता है। अब तकिये से कूदकर मेज पर खड़ा हो जाता है। नेहरू जिन्दाबाद का तुमुलनाद करता है। फिर और आगे बढ़ता है। रूस से सम्बन्धित मित्रता के विषय में कुछ न कहकर कुर्सी में खड़ा हो जाता है और केवल यह पढ़ा-पढ़ाया पाठ दुहराता है 'पण्डित नेहरू के हाथ मजबूत करो।' सोफा रह गया था, उसपर भी चढ़कर उसने 'जवाहर चाचा जिन्दाबाद' का नारा लगाया। यह है देश के गाँधीवादी व्यक्तियों की मानसिकता जो घृणास्पद ही नहीं, अपितु परम पीड़क है। इसी देशव्यापी तथाकथित गाँधीवादी मानसिकता से संत्रस्त परसाई जी की मानसिकता टकरायी और द्वन्द्व में आकर उसके विरोध में व्यंग्य बोल पड़ी। बड़ी खूबी से परसाई जी ने व्यंग्य के द्वारा ऐसे व्यक्तियों की बखिया उधेड़ी है। जो सर्वथा प्रशंसनीय है। ऐसे काँग्रेसी भइयासाहब से पिण्ड छुड़ाकर परसाई जी तब भगे जब उन्हें आशंका हुई कि अब यातो अल्मारी पर चढ़कर पुराना गाँधीवादी नयी ऊँचाई पायेगा या उनकी पीठपर सवार होकर। यह चलते-चलाते की सूझ चरमबिन्दु को अन्तिम चोटकर गयी।

शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जो काली करतूत करते-करते भी परसाई जी की निगाह से बच निकला हो। राजनीति के मैदान में उतरी पार्टियाँ भी इनकी वक्र दृष्टि से बच नहीं पाईं। प्रजावादी समाजवादी दल और लोहियावादी समाजवादी दल भी इनके शिकार बने हैं। प्रजावादी समाजवादी पार्टी के साथी तेजेराम 'आग' स्वयं अपने नाम से विदूषित हुए और अपनी पार्टी को भी अपनी करनी से नीचे गिराये रहे। वे विलाप करते दिखाये गये हैं तब के बाबू जयप्रकाश नारायण के चित्र के सामने, जिनके आवाहन पर ही काँग्रेस से वह बाहर निकल आये थे, इस आशा से कि चुनाव लड़-लड़कर भी अपनी इज्जत बना लेंगे। नारायण जी तो सर्वोदय में चले गये और वे लावारिस रह गये। वे बाहर वीर रस का और भीतर करुण रस का प्रदर्शन करते हैं। वे दल में रहते हुए भी बदल जाते हैं। वे कभी-कभी राजा जी के सामने और कभी-कभी गुरु गोलवरकर के सामने भी इसी तरह रो लेते हैं, जैसे बाबू जयप्रकाश नारायण के चित्र के सामने। वे कहते हैं कि उनकी इस दयनीय आर्थिक स्थिति के उत्तरदायी दोनों हैं—नेहरू जी और

नारायण जी। दोनों ने उन्हें धोखा दिया है। अवाड़ी काँग्रेस में नेहरू ने तो समाजवाद का नारा ही छीन लिया। यह 1947 की आवाज के विरुद्ध था। वे कहीं के न रह जाने पर पछताते हैं कि हाय जनसंघ में ही क्यों न चले गये? 'आग जी' जनसंघ और समाजवादी पार्टियों में कोई अन्तर नहीं देखते। सब विरोधी एक होते हैं। वे इस गुरुमंत्र को मानते हैं कि वे दक्षिण भारत को डी०एम०के० को दे देंगे। राजा, रानियों को उनके रजवाड़े वापस कर देंगे, ताकि स्वतंत्र पार्टी को संतुष्ट किये रहा जाय। यही नहीं, भिलाई जैसे सार्वजनिक उद्योग को वह प्राइवेट कम्पनियों के हवाले कर देंगे। जनसंघ को मिलाए रखने के लिए उनका नायाब नुस्खा यह है कि वह भी दक्षिण अफ्रीका जैसा कानून बना ले और हिन्दू को वैसा ही दर्जा यहाँ दे-दे, जैसे वहाँ गोरों को दिया गया है। पंजाब को मास्टर तारा सिंह को सौंपने की उनकी योजना भी ऐसी ही है। वे समाजवाद को गोली मार देने के पक्ष में हैं। समाजवाद शब्द पुराना पड़ गया है उनकी निगाह में। वे तो चाहे जैसे हो सत्ता हथियाने को ही तत्पर दीखते हैं। न उनका कोई आदर्श है, न उनकी कोई राजनीतिक समझ है। स्वस्थ विरोध वह उसे कहते हैं, जो हर स्थिति में और हर मुद्दे पर होता रहे। वह विरोध तभी समाप्त कर सकते हैं, जब उन्हें चुनाव लड़ने का टिकट मिल जाय। लोहियावादी समाजवादी की खिल्ली भी परसाई जी ने खूब जमकर उड़ाई। अशिष्ट भाषा के प्रयोग के लिए इस पार्टी ने स्कूल खोल रक्खे हैं। वहीं इनका प्रयोग सिखाया जाता है। अटपटी बात बोलना ही इसके कार्यकर्ताओं का मूल धर्म है। लोहिया जी ने आँकड़े प्रस्तुत करके सिद्ध किया था कि प्रधानमंत्री पर प्रतिदिन कितनी रकम व्यय होती है और आमआदमी कितने कम में; गुजर करने को मजबूर है। इस दृष्टिकोण को परसाई जी ने 'हिसाब की क्रांन्ति' का नाम दिया। बहुत उपयुक्त टिप्पणी है लोहिया जी की तथाकथित क्रान्तिकारिता पर। इसे कहते हैं सस्ती, भावुक राजनीति का दम-दिलासा वाला रुख जो अनपढ़ जनता को मोह में जकड़ ले। संसदीय व्यवहार को जो लोहियायी छाप मिली तो वह भी अभद्र और आपत्तिजनक हो गया। टेबुल पर कूदकर चढ़ जाना और नीचे घुसकर वहाँ बकरे की बोली बोलना जैसा यह व्यवहार होने लगा था। भर्त्सना परसाई जी ने की, ठीक की। इस पार्टी का कोई संगठित कार्यक्रम नहीं रहा। इसीलिए परसाई जी ने खुलकर सशक्त शब्दों में इस कमजोरी पर प्रहार किया और क्रान्तिनाद जी के मुँह से कबूल करवा लिया कि मजबूत संगठन बनाना क्रान्ति को टालना है और यह तरीका भी पुराना है। नया तरीका तो 'हिसाब क्रान्ति का ही है।' फिर इस पार्टी की स्वच्छंदतावादी राजनीति को एक-दूसरे ढंग से विरूपित किया परसाई जी ने। और यह कहा कि क्रान्ति का दूसरा तरीका है कि हरएक भारतवासी के हाथ में तलवार हो और हर एक को छूट हो कि जो जिसे चाहे मारे। यहाँ मार-काट की समाजवादी क्रान्ति का मखौल उड़ाया गया है। तीसरा तरीका भी इस पार्टी ने क्रान्ति करने के लिए अपनाया है कि संसद में हुल्लड़ करो कि मंत्रिमंडल भाग खड़ा हो और इस दल के सदस्य सरकार पर कब्जा कर लें।

'प्रेम प्रसंग में फादर' के माध्यम से जवान लड़के-लड़कियों के प्राथमिक प्रेम-उबाल की कुछ एक करतूतों की बानगी पेश की गयी है। एक जगह दर्शनशास्त्री प्रेमी के

अनुभव की चर्चा भी की गयी है। रिटायर्ड फादर और गैर रिटायर्ड फादर की मनोवृत्तियों में फर्क दिखाया गया है और प्रेम की भाषा में 'फादर' के कई गुण-धर्म टिक के निशान लगा-लगाकर व्यक्त किये गये हैं। अन्त में एक दर्दनाक कथा का भी उल्लेख हुआ है। पिता को खुश करने की कोशिश में एक पुत्र उसकी हाँ-में-हाँ मिलाता है और पैत्रिक अंग्रेज-भक्ति की ताईद आँख मूँदकर करता है। वह समझता है कि पिता को इस तरह प्रसन्न कर उसकी पुत्री को अपनी बीवी बनाने में सफल हो जायेगा। होता यह है कि लड़की, लड़के और पिता की वे गुलाम मनोवृत्तिवाली बातें सुनती रहती है और जब लड़का 'प्रपोज' करता है, तो वह लड़के को तिरस्कार से देखती है और कहती है कि उस जैसे राष्ट्रद्रोही व गुलाम मनोवृत्ति के आदमी पर तो वह थूकेगी भी नहीं। लेकिन इस दर्दनाक कथानक का वह असर नहीं पड़ता कि पूरा प्रेम-प्रसंग अपने पूरे माहौल के साथ उभरकर सामने आ जाय। इस प्रकार की कला को 'बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं' वाली कला कह सकते हैं। न वहाँ ब्रजवासियों का लट्ठमार प्रेम प्रकट होता है। जिसके लिए वह मशहूर है, न यहाँ 'होरियार, हुड़दंगी' की नौबत आई है कि हँसते-हँसते पीठ की मार सहलानी पड़े। फिर वाकई परसाई जी ने यातो यहाँ अनुभवी चौके-छक्के नहीं लगाये या वे चूकते चले तो चूकते ही चले गये। बहरहाल यह प्रसंग ऐसा था कि होली का मजा आ जाता और व्यंग्य की मार लड़के-लड़कियों की पीठपर उपट तो जरूर ही आती। और 'फादर' महोदयों की नैतिकता की परीक्षा भी हो जाती।

'सोने के साँप' में सरकारी योजनाओं की ऐसी-तैसी का बखान है। जमींदारी उन्मूलन, भूमिसुधार, भूमि-सीमा-निर्धारण आदि, समाधानों में जो-जो गड़बड़ियाँ हुईं, परसाई जी ने उन्हें गिनाया है। नकली दवाओं के रोजगार को रोकने के लिए सरकारी प्रयासों की विफलता के कारण भी उन्होंने बताये। सोने की सरकारी नीति की आलोचना भी की। पर इसके बावजूद परसाई जी ऐसे साँप को पकड़ नहीं पाये। वह ज्यों-का-त्यों कायम है और उनके तीर से मरा नहीं। व्यंग्य की सामग्री तो है, पर परसाई जी उसका उपयुक्त प्रयोग नहीं कर सके। शायद वह तीर चलाते-चलाते थक कर सुस्ताने लगे थे और दिमाग को कोल्ड ड्रिंक पिला चुके थे।

'टेलीफोन' भी व्यंग्य से नहीं घनघनाया। व्यंग्य की घंटी बजती है तो उसी लहजे में जैसे कमरों में बजा करती है। परसाई जी की चेतना चाबुकमार व्यंग्य नहीं करती। मालूम होता है कि परसाई जी ने सोचकर शक्ति-बाण का प्रयोग नहीं किया। इसे पढ़ने के बाद भी लक्ष्मण बेहोश नहीं होते और हनुमान् को संजीवनी बूटी लाने जाना नहीं पड़ता।

'समय पर मिलने वाले' का व्यंग्य भी हल्का-फुल्का है। मालूम होता है कि परसाई जी की चेतना की वेवलेन्थ ऐसे मामलों में कमजोर पड़ जाती है। उनका रेडियो स्टेशन जैसे इलाहाबाद का रेडियो स्टेशन हो जाता है, जो हमेशा-हमेशा मन्द स्वर में सिसियाता रहता है। कुछ इसी तरह के व्यंग्य का निर्वाह 'वह जरा वाइफ है न' में हुआ है। 'चावल से हीरे तक' की व्यंग्य-यात्रा भी बातूनी यात्रा होकर रह गयी है। वहाँ दूधफाड़ व्यंग्य नहीं है। न यहाँ अगुँलीकाट व्यंग्य की कैंची चली है। 'बेचारा भला

आदमी' भ्रष्टचरित्र के समाज में जिस दुर्दशा को प्राप्त होता है, उसीको परसाई जी की कलम ने 'थोड़े में बहुत कहा' है। ऐसे आदमी को अपना आत्मपरीक्षण करने के लिए विवश होना पड़ता है। किस तरह ऐसे आदमियों का शोषण-दोहन होता रहता है, इसकी कुछ मिसालें देकर व्यंग्यकार परसाई जी ने स्वयं अपने पर भी व्यंग्य-बाण मारा है। लेखक भी एक ऐसा ही भला आदमी होता है। वह जबतक प्रकाशक से पैसा न माँगे– हिसाब न माँगे, तबतक भला रहता है। लेकिन पैसा की माँग करते ही वह प्रकाशक को ऐसा कहते जान पड़ता है जैसेकि वह उसके पिता की मृत्यु की सूचना देकर मर्मान्तक कष्ट दे रहा हो। 'स्नान' को लेकर परसाई जी ने जो प्रवचन दिया है। वह साहित्यिक पुट पाकर भी अंधविश्वासों की परती जमीन को कुरेद सकने में असमर्थ साबित होता है। 'स्नान' अमूर्त प्रतीक बनकर रह गया है। इतना महान् अंधविश्वासी देश इतनी हलकी चपत से चौंकता भी नहीं। इसके जागने का प्रश्न ही नहीं उठता।

परसाई जी का बहुत-सा लेखन अनुभव का लेखन है। वह समाज में रह कर समाज के दायित्वबोध से जीते हैं और सबकी कथनी-करनी को उसी बोध से जाँचते-परखते और आँकते हैं। तब इस तरह से पायें हुए तथ्यों और करतूतों को अपनी बानी के व्यंग्य से व्यक्त करते हैं। ऐसे में व्यक्त हुआ उनका व्यंग्य कोई उनकी निजी अभिव्यक्ति नहीं होता। उसमें व्यक्त सत्य सामाजिक सत्य होता है, जिसे साधारणतया दूसरे अपनी आँखों से देख नहीं पाते और अगर देख भी पाते हैं तो उसे अव्यक्त ही रहने देते हैं, क्योंकि वह भी उस सत्य को परदे की ओट में रखकर सुख और सुविधा का जीवन-यापन करने के अभ्यस्त हो चुके होते हैं। लोगों की ऐसी मनोवृत्ति को देश आज ही नहीं, लगातार वर्षों से भोग रहा है और उनकी बेईमान करनी से भ्रष्ट-पर-भ्रष्ट होता जा रहा है। परसाई जी से एक सज्जन ने अपने लड़के के नम्बर बढ़वाने के लिए कहना चाहा और कहा कि वह अपने परिचित अध्यापक से कहकर काम करा दें। मगर परसाई जी का ईमान पक्का था, इसलिए उन्होंने इन्कार कर दिया। नतीजा हुआ कि वह सज्जन उनकी बुराई करता फिरता रहा। निजी हित और अनहित का यह चल रहा दौर-दौरा आज तो पहले से भी जोर पर है। शिक्षा संस्थाओं में अब खुलेआम 'पेपर आउट' हो जाता है, नकल की छूट है, नम्बर बढ़वाने की सहूलियत है और पास हो जाने का शर्तिया इलाज है। परसाई जी ने इसपर विचार किया, उत्तेजना से। उन्हें याद आया कि पुरानी कथाओं के दानव अपनी आत्मा को दूर किसी पहाड़ी पर तोते में रख देते थे और तब बेखटके दानवी कर्म करते रहते थे। उन्होंने उन दानवों से आज के बेईमान आदमी की तुलना की है। वे कह उठे कि उन्होंने 'ऐसे आदमी देखे हैं, जिसमें से किसी ने अपनी आत्मा कुत्ते में रख दी है, किसी ने सुअर में। अब तो जानवरों ने भी यह विद्या सीख ली है और कुछ कुत्ते और सुअर अपनी आत्मा किसी-किसी आदमी में रख देते हैं।' उनका यह कथन शत-प्रतिशत सही है और हर बेईमान का सिर तोड़ देने के लिए हथौड़े की चोट के समान है। दुकानदार भी बेईमानी से फलते-फूलते हैं। सही हिसाब रखते हैं तो सचाई के लिए घूँस देनी होती है। गलत हिसाब बनाकर देते हैं तो कहीं कम

घूँस दे कर काम चल जाता है। शिक्षा और व्यापार के क्षेत्र की यह दयनीय हालत हुई। कोई औरत जब किसी बड़े महानुभाव के पास उनसे सच्चरित्रता का प्रमाणपत्र लेने जाती है कि उसे प्रस्तुत कर वह नौकरी पा सके तो उसे महानुभाव के शयन-कक्ष में चलने के लिए कहा जाता है कि इसके उपरान्त उसे वह पत्र दिया जा सके। यह चारित्रिक पतन आये दिन की मामूली बात हो गयी है। तभी परसाई जी कह बैठे कि 'देखता हूँ कि हर सत्य के हाथ में झूठ का प्रमाण-पत्र है। ईमान के पास बेईमानी की सिफारिसी चिट्ठी न हो, तो कोई उसे दो कौड़ी को न पूछे। यही सब सोच कर मैं ढीला हो गया। अब मैं बड़े खुले मन से नम्बर बढ़वाता हूँ।' यह सब पहिले कम होता था और जो यह काम कराने आता था, संकोचशीलता से बात करता था। पर अब तो निर्लज्जता पर उतर आये हैं लोग। दस साल तक यह भोगते-भोगते परसाई जी परेशान हो गये। तभी तो उन्होंने ठीक ही कहा कि 'सफलता के महल के सामने का आम दरवाजा बन्द हो गया है। कई लोग भीतर घुस गये हैं और उन्होंने कुण्डी लगा दी है। जिसे उसमें घुसना है, वह रूमाल नाक पर रखकर नाबदान में से घुस जाता है। आसपास सुगंधित रूमालों की दुकानें लगी हैं।' नाबदान शब्द से ही इस घिनौनी गन्दगी का पूरा इजहार हो जाता है, जो सर्वत्र व्याप्त है। परसाई जी अपने इस व्यंग्य के दौरान ऐसे लोगों के साथ बड़ी सहानुभूति से पेश आये हैं। उन्हें उन्होंने निर्मम हो कर नहीं पीटा। उनकी मजबूरियों पर वे रोकर उन्हें गले लगाने की हदतक पहुँच गये हैं। इसीलिए परसाई जी का व्यंग्य मानवीय सहृदयता का व्यंग्य हो गया है।

परसाई जी के पड़ोसी मित्र के सपाट पड़े आँगन में लगा बैंगन का पेड़ जब फल उठा तो घरवालों को इन्तहा खुशी हुई। और फिर जबतक बैंगन लगते रहे; तब तक बैंगन-ही-बैंगन की चर्चा होती रही। इन घर के बैंगनों की खूब तारीफ हुई। परसाई जी सुनने-सुनते अघा गये। उनकी चेतना जागरूक हुई और वह घर-बाहर को लेकर औरत, गुलाब और गेंदे पर फिकरेबाजी करने लगे। जबलपुर की तरफ बोलचाल में पत्नी को मकान कहा जाता है, पत्नी 'मकान' हुई तो पति 'चौराहा' हुआ। ऐसा कह बैठे परसाई जी और तत्काल उन्हें आभासित भी होने लगा कि जैसे कोई स्त्री दूसरी स्त्री से पूछ रही हो कि 'बहन, तुम्हारा चौराहा शराब पीता है या नहीं?' यह कटाक्ष है जो परसाई जी ने पुरुष-जाति पर किया है। वह स्त्री के प्रति हो रहे अपमानजनक व्यवहार से मन-ही-मन पहले से ही क्षुब्ध हो चुके थे। उन्होंने अपना क्षोभ लिख भी दिया है, 'जब वह कद्दू काटता है, तब कोई ऐतराज नहीं करता, तो औरत को पीटने पर क्यों ऐतराज करते हैं? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनों उसके घर के हैं। घर की चीज में यही निश्चिन्तता है।' किसी सामाजिक बुराई का बदला परसाई जी ने अपनी योनि वाले से कटाक्ष करते हुए लिया। चूके नहीं। यही नहीं, आगे देखिए क्या कहा है परसाई जी ने अपने एक दोस्त के बारे में जब उसने शादी कर ली–'उसने शायद घबरा कर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगाने के इन्तजार में साल गुजरते हैं और फिर घबड़ाकर आँगन में बैंगन या भिण्डी लगा लेते हैं। मेरे एक परिचित ने इसी तरह

अभी शादी की है, गुलाब के इन्तजार से ऊब कर बैंगन लगा लिया है।' लेकिन बात ऐसी नहीं है कि परसाई जी स्त्री को ज्यादा पसन्द करते हों और पुरुष को कम। वह इनमें से किसी की निन्दा या अवहेलना नहीं करते। उनमें से कोई भी उनका ममत्व पा सकता है या उनकी कटाक्ष का शिकार हो सकता है। परिवार की एक तरुणी के मुख से निकला–'अच्छा तो है। बैंगन खाए भी जा सकते हैं।' परसाई जी की विचार-प्रक्रिया चल पड़ी। लिखते हैं–'मैंने सोचा हो गया सर्वनाश। सौन्दर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुन्दरी गुलाब से ज्यादा बैंगन को पसन्द करने लगी। मैंने कहा–देवी, तू क्या उसी फूल को सुन्दर मानती है, जिसमें से आगे चलकर आधा किलो सब्जी निकल आए? तेरी जाति कदम्ब के नीचे खड़ी होनेवाली है, पर तू शायद हाथ में बाँस लेकर कटहल के नीचे खड़ी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता में क्या तू कोई फर्क नहीं समझती? तू क्या बंसी से चूल्हा फूँकेगी? और क्या वीणा के भीतर नमक मिर्च रखेगी?'

इसके पीछे परसाई जी की वह खोज काम कर रही मालूम होती है, जो बैंगन की ज्यादा तारीफ ने पैदा कर दी थी। न मर्द उनकी फिकरेबाजी से बचा, न औरत बची। इसी तरह एक तरफ गेंदे के फूल की तारीफ करते हैं तो उसे गरीब सर्वहारा कह बैठते हैं, क्योंकि वह कहीं भी जड़ें जमा लेता है। लेकिन दूसरी तरफ जब गेंदे का फूल सूखकर डण्ठल मात्र हुआ, जमीन में गड़ा उन्हें चिढ़ाता रहा, तब उन्होंने कहा–'अभागे, मुझे ऐसा गेंदा नहीं चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाए। गुलाब को उखाड़कर वहाँ जम जाने की जिसमें ताकत हो, ऐसा गेंदा मैं अपने जीवन में लगने दूँगा।' बात बैंगन को लेकर चली थी और चलते-चलते इस हद तक पहुँची कि उनकी फिकरेबाजी के इतने सब लोग निशाने बने। और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते परसाई जी सरकार पर और उसके नौकरों पर भी तानाकशी कर ही बैठे। लिखते हैं–'भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार, आप कब सीखेंगी? मैं तो अब 'प्लाण्ट' लगाऊँगा तो पहले रखवाली के लिए कुत्ते पालूँगा। सरकार की मुश्किल यह है कि उसके कुत्ते वफादार नहीं हैं। उनमें से कुछ आवारा ढोरों पर लपकने के बदले, उनके आस-पास दुम हिलाने लगते हैं।' अपने आँगन को भी निशाना बनाते हैं और लिखते हैं। '.....मैं इस आँगन में अब पौधा नहीं रोपूँगा। यह अभागा है। इसमें बरसाती घास के सिवा कुछ नहीं उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक नहीं होते। फूलों का क्या ठिकाना। वे गँवारों के आँगन में भी खिल जाते हैं। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूँघने की तमीज नहीं है पर उसके बगीचे में तरह-तरह के फूल खिले हैं। फूल भी कभी बड़ी बेशरमी लाद लेते हैं और अच्छी खाद पर बिक जाते हैं।' इसे कहने में मर्माहत हृदय बोलता है। यह दु:ख-दर्द की विवेकशील आवाज है जो निकल पड़ी है। परसाई जी के मित्र ने इनके आँगन के बारे में सही ही कहा–'तुम्हारे आँगन में कोमल फूल नहीं लग सकते। फूलों के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबन्द के आँगन में जम जाएँ, पर तुम्हारे आँगन में नहीं जम सकते। वे कोमल होते हैं, तुम्हारे व्यंग्य की लपट से जल जाएँगे। तुम तो अपने आँगन में बबूल,

भटकटैया और धतूरा लगाओ। यह तुम्हारे बावजूद पनप जाएँगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबूल तुम्हें? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हें या तुम धतूरे को?' पता नहीं उनके दोस्त ने यह कभी कहा भी या नहीं पर लिखा तो इसे परसाई जी ने। इसलिए यह अभिव्यक्ति इन्हीं के अन्तरंग की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में उनका व्यक्तित्व बोल उठा है कि उनका व्यंग्यकार वह सब जोखिम उठाता चला जायेगा जो उसे झेलने ही पड़ेंगे और उसकी नियति बन गये हैं।

जी तो चाहता है कि परसाई को चूम लूँ—कलम को चूम लूँ और ऐसे दमदार साथी को सबके सिरपर बिठाकर फल-फूल से लादकर, सब सुख-सुविधा प्रदान कर दूँ और अपने देश में ऐसे दिन आने में पचासों साल लगेंगे, तबतक के लिए प्रत्येक प्रतिबद्ध लेखक को कमर कसे रहना चाहिए और हर समय आफत मोललेने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

'फिर ताज देखा' में परसाई जी ने शुरुआत 'भेड़ाघाट' से की और वहीं से, पहले तो घर आये और ठहरे मेहमानों की आवभगत, फबती कस-कस कर की, आगे कुछ बढ़े तो जबलपुर से आगरे आ पहुँचे और वहाँ वालों की इमदाद में वहाँ के आने-जाने वाले मेहमानों की वैसी ही खैर-खबर ली, जैसी अपने नगर में आने-जाने वाले की ली। वाकई में मेहमानों के मारे जबलपुर और आगरा दोनों ही नगर, मेजबानों के लिए संकट-स्थल हो गये हैं। भले ही देखनेवालों के लिए वे सौन्दर्य-स्थल हों। परसाई जी लिखते हैं, 'भेड़ाघाट से हम कितने ही परेशान हों, उसकी अवहेलना नहीं सह सकते।' ऐसा लिखने में उनका सौन्दर्य-बोध जागा और प्रबल होकर उनपर सवार हो गया और तभी वह नगर-मोह में पड़कर जबलपुर के भेड़ाघाट की अवहेलना बर्दाश्त न कर सके। आगरे वाले को इन्होंने चाँदनी रात में भेड़ाघाट दिखाया। लेकिन उस ताजमहली नगर वाले ने जब उस 'घाट' की तारीफ केवल 'ठीक है' कहकर की तब तो परसाई जी के मानवीय मन में आम आदमी जैसी प्रक्रिया हुई और वे तिलमिला जैसे गये। मन में पड़ा 'घाट का अपमान' उनके आगरा पहुँचकर ताज देखते समय खौखिया उठा और जब किसी ने ताज के बारे में उत्सुकता से उनसे पूछा कि कैसा लगा, तब अपने 'घाट' के अपमान का बदला लेते हुए फुस्स से बोले 'ठीक है'। बात यहीं नहीं खत्म होती। बदला ले लेने के बाद जो गर्व हरएक पानीदार आदमी को होता है, वही गर्व परसाई जी को हुआ और सन्तोष की साँस लेकर प्रकट में कह सके, 'मैंने बदला ले लिया।' मन-ही-मन हर्षित भी हुए जब उन्होंने ताज-महिलाओं को अपनी, 'दो शब्दों' ठंडी, कमसखुनी से कटते देख लिया। यह बात वैसे तो साधारण है। घट गयी—चली गयी। लेकिन जब आदमी का पूरा जीवन ऐसी ही घटनाओं से आक्रान्त होता रहे और वह उन्हें भोगते-भोगते अपनी स्थिति (यानी मनोदशा) काठ जैसी बना ले तो यह छोटी सहज साधारण घटनाएँ भी उसके मरण का कारण बन जाती हैं, जिससे वह बराबर, मरते दम तक, बेखबर ही बना रहता है। व्यंग्यकार परसाई इस बात को—इस परिणाम

को बखूबी जानते हैं और ऐसे परिणाम को इन्सान के लिए प्राणघातक मानते हैं। फिर जब देश के सारे लोग इस प्राणघातक मर्ज में मुबतिला हों और ऐसे मर्ज से बेखबर ही बने रहें और मान-अपमान की भावना से शून्य हो जाएँ तो देश भी मुर्दा हो जाता है। परसाई जी ने इस अन्तिम परिणति को मद्देनजर रखा और ताज और भेड़ाघाट के बहाने से मियां भुट्टो के किये गये अपमान का मुँहतोड़ राष्ट्रीय बदला लिया। इसी सिलसिले में साहिर लुधियानवी की भी अच्छी खिंचाई की। साहिर की एक कविता 'ताज' पर है। वह ताज को गैरत की नजर से देखते हैं और समझते हैं कि शाहजहाँ ने ताज बनवाकर गरीबों की मुहब्बत का मजाक उड़ाया है। यह गलत राजनीतिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति थी। चुनांचे परसाई जी ने इनकी खाल की भी खिंचाई की। यह दृष्टिकोण कतई साम्यवादी नहीं है। वह सिखाता है ऐसी इमारतों को सुरक्षित रखने की बात। पर साहिर साहब गरीबों के अलमबरदार बन ही तो गये और उन्होंने प्रेम की सम्पूर्ण भावना का दिवाला निकाल दिया और इस तरह खुद भी सौन्दर्य-बोध से वंचित, मुफलिस हुए और देश के तमाम नौजवानों को भी, अपने इसी नजरिये से मुफलिस बना सके। परसाई जी ने यह काम माहिर व्यंग्यकार की तरह किया है। उन्होंने ऐसा करके राष्ट्रीयता की पहचान करायी है और मानवीय प्रेम को पुनर्जीवित और प्रतिष्ठित किया है। शायद इसी प्रभाव में आकर पन्त जी भी 'मुँह भरा' गिर पड़े थे और उन्होंने भी 'ताज' के सुन्दर स्मारक को जीवन की अवहेलना के स्मारक के रूप में देखा और उसे मृत्यु का सुन्दर स्मारक कह गये। चाहे वह उर्दू वाला हो, चाहे हिन्दी वाला, चाहे मुसलमान हो, चाहे हिन्दू, गलत है तो गलत है। उन्हें किसी कोने से सही नहीं कहा जाना चाहिए। उनमें से हरएक से आशा यही की जाती है कि वह सही-सम्यक्-मानवीय जीवन-दृष्टि पैदा करे और देश का सभ्य नागरिक बनकर जिये। परसाई जी का निष्कर्ष सही है कि 'हमारे कवियों ने ताज के बारे में जल्दबाजी बरती। कच्चे जनवाद के उबाल में उससे नफरत करने लगे।' कवियों को छोड़कर परसाई जी कारपोरेशन के सदस्य से मिले और कह बैठे कि वह 'अपने घर के सामने सीमेंट की सड़क बनवा लेता है, जिससे प्रिया के पाँव में कंकड़ न गड़े। घर के सामने बिजली का खम्भा लगवा लेता है, ताकि प्रिया अँधेरे में न डरे। प्रजातंत्र में भी हजारों छोटे-बड़े शाहजहाँ हैं। उन्हें जब भी मौका मिलता है अपनी प्रिया के लिए जनता के पैसे से कुछ कर देते हैं। हर मुमताज उम्मीद लगाए बैठी है कि चुनाव में हमारे शाहजहाँ जीतनेवाले हैं और आगामी मंत्रिमंडल के पुनर्गठन में उन्हें जगह दी जा रही है।' किसी पवित्र ने कह दिया कि 'ताज की छाया में सैकड़ों जोड़े मिलते हैं।' बस इतना सुनना था कि परसाई ने कहने वाले को तड़-सा चाँटा जैसा मारा और कहा, 'उन्हें तो बदबूदार, गन्दी, अँधेरी कोठरियों में मिलना चाहिए—तभी तो हमारी नैतिकता की रक्षा हो सकेगी। सारी नैतिकता पिछवाड़े के दरवाजे से ही तो आती है।' इसी सिलसिले में परसाई जी ने पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की एकसाथ खबर ली। कहते हैं 'उधर पाकिस्तान में लोग हैं, जो सौन्दर्य की जाति-बिरादरी तय करते हैं, कला की नस्ल पूछते हैं। और इधर मेरे देश में भी लोग हैं, जो ताज पर गंगाजल छिड़ककर उसे देखना चाहते हैं। दोनों कला, संस्कृति और मनुष्यता के दुश्मन हैं।' यह कबीर जैसी

बानी है, जो विवेक की धार से वार करती है और मुसलमानियत और हिन्दुत्व की अंधवादिता को ढेर कर देती है।

बात यहीं नहीं रुकती। परसाई जी अपने इस 'ताज' वाले निबन्ध को बड़े उत्साह से प्रसन्न होकर समाप्त करते हुए लिखते हैं–'मगर इनसब से ऊपर एक बात है–ढाका रेडियो से सुन्दर रवीन्द्र संगीत आता है और दिल्ली रेडियो से इकबाल की गजल गायी जाती है। मुझे विश्वास है, न ताज का कोई मजहब माना जायेगा और न उसपर गंगाजल छिड़कने की कोशिश होगी।' परसाई जी का पूरा-का-पूरा निबन्ध सीख से सधा, धर्मनिरपेक्ष नैतिकता के समर्थन में लिखा गया है। साधारण तथ्य के भीतर से गहरी मानवीय दृष्टि उपलब्ध की गयी है।

'अन्न की मौत' की बातचीत निजी प्रसंग से शुरू हुई, चूहों तक पहुँची, वहाँ से व्यवस्था की ओर दौड़ी और चूहेदानी का रहस्य जानकर व्यापक षड्यंत्र की जानकारी देती हुई जिलेबन्दी की कठिनाइयों को समेट कर देशी-विदेशी पैसों की चाल-ढाल से नाक-भौं सिकोड़ती देवताओं के पेट पर आ धमकी और वहाँ से सहसा राष्ट्र की एकता के पास आई और उसका असली रूप देखा। परसाई जी इस रूप को प्रस्तुत करते हैं–'हे भारत भाग्य-विधाता, पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविण, उत्कल बंगा–सब जगह अन्न को मार कर दफना दिया गया। कोटि-कोटि नर-नारी अन्नसंकट के सूत्र में बँधकर एक हो गये हैं। भुखमरी और भ्रष्टाचारी हमारी राष्ट्रीय एकता के सबसे ताकतवर तत्व बन गये हैं। धर्म, संस्कृति और दर्शन कमजोर पड़ गये हैं। कैसी अद्‌भुत एकता है? पंजाब का गेहूँ गुजरात के कालाबाजार में बिकता है और मध्यप्रदेश का चावल कलकत्ता के मुनाफाखोर के गोदाम में भरा है। देश एक है। कानपुर का ठग मदुराई में ठगी करता है, हिन्दीभाषी जेबकतरा तमिलभाषी की जेब काटता है और रामेश्वरम् का भक्त बद्रीनाथ का सोना चुराने चल पड़ा है। सब सीमाएँ टूट गयी हैं। अब जरूरी नहीं है कि हैदराबाद का रेड्‌डी वहीं भूखा मरे। वह पटना में भी मर सकता है, क्योंकि देश एक है। मुनाफाखोरों, कालाबाजारियों, भ्रष्टाचारियों ने मिलकर राष्ट्र को एक कर दिया है। सुन्दर सपने वाले रवीन्द्रनाथ की उल्लासमयी जिज्ञासा थी कि ये हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई सब किसके आवाहन पर भारत-महामानव-सागर में एकत्र हो गये हैं? मैं पूछता हूँ, कवि, वे तो ठीक आये, मगर ये सब जातियों के लुच्चे किसके आवाहन से इधर आये?' अन्त में मर्माहत होते हुए व्यंग्यकार ने सहनशीलता और तटस्थता पर जो कहा उसे सुनिए : 'अद्‌भुत सहनशीलता है इस देश के आदमियों में; और बड़ी भयावह तटस्थता कोई उसे पीट कर उसके पैसे छीन ले, तो वह दान का मंत्र पढ़ने लगता है।'

'एक बेकार घाव' को लेकर परसाई जी ने दु:ख की छान-बीन की है। लिखते हैं, 'पीड़ा के गवाह न हों, तो वह बेमजा हो जाती है। बहुत तरह की पीड़ाएँ गवाह देखकर पैदा हो जाती हैं, जैसे कुछ स्त्रियों के पति के घर आते ही सिरदर्द होने लगता है। खूबसूरत चिकने पत्थर बड़े खतरनाक होते हैं। इन पर पहले तो सिर्फ फिसलने का ही डर था। मेरे देखते-ही-देखते बहुत-से लोग चिकने पत्थरों को कुचलने का हौसला

लेकर गये और फिसलकर ऐसे गिरे कि अभी तक उनका सिर पत्थर से चिपका है। अब तो ये इसे अपनी नियति मानने लगे हैं, और उठने की कोशिश को बेवकूफी समझते हैं। इधर पत्थरों ने तेज किनार निकाल ली है। कोई मजबूत कदमवाला चले और न फिसले तो उसका पाँव काट देते हैं। किसी मंत्री का जुकाम मेरे निमोनिया के बराबर होगा। मेरी जानकारी में एक मंत्री की जाँघ में फोड़ा हो गया था। उनके आस-पास लोग इस तरह बैठे थे, जैसे सबके शरीर में फोड़े-ही-फोड़े हों। प्राचीन इतिहास के एक अध्यापक, जिनकी तरक्की रुकी थी, बता रहे थे कि प्रियदर्शी अशोक को भी ठीक इसी जगह फोड़ा हुआ था। इस दु:ख का स्तर ही दूसरा है। वह फोड़ा राष्ट्रीय स्तर का था। राष्ट्रीय स्तर के फोड़े एकदम आदरणीय हो जाते हैं। मेरा घाव 'मरहम-वरहम' स्तर का ही था—एक दु:ख है कि रोटी नहीं है। एक दु:ख यह भी है कि जिसमें रोटी रखते है, वह फ्रिज बिगड़ गया है . . . . . अच्छा कलेण्डर न मिले तो कुछ लोग आत्महत्या करने की जगह खोजते हैं। . . . . . .अच्छे घाव से बड़े काम होते हैं। रूठी प्रेमिका लौट आती है। प्रेम की परीक्षा भी हो जाती है। . . . . . सजे हुए घावों से लोग मंत्री हो गये हैं। माँ की मृत्यु से एक उम्मीदवार चुनाव जीत गये। पेचिस ने एक रीडर को प्रोफेसर बना दिया। एक बहिन जी को पति ने त्याग दिया, तो सारी पार्टियाँ उनके सामने चुनाव टिकट लेकर खड़ी हो गयीं। . . . . . पैर का घाव सबसे घटिया होता है। घाव सिर पर हो और पगड़ी की तरह पगड़ी बँधी हो, तो लोग आधा घंटा हाल पूछते हैं। हाथ में चोट हो और हाथ 'स्लिंग' से लटका हो, तो आदमी कितना अच्छा लगता है। ये इज्जतदार घाव हैं। घाव को दूकान के साइनबोर्ड की तरह होना चाहिए। सामने टँगा हो और रंग-बिरंगे बल्ब लगे हों। जो अपना साइनबोर्ड अल्मारी में रखता है, उसकी दूकान बरबाद न होगी? दुबारा ऐसा मौका आया तो कोशिश करूँगा कि पाँव न कटे, सिर फूटे 'सिर की चोट' का निराला ही मजा है। इस अँगुली के घाव ने तो मुझ में हीन-ग्रन्थि पैदाकर दी है। एक जख्म और बेकार चला गया।'

ठूँस-ठूँसकर खाने और खिलाने की गैरमामूली चलन से देश के आदमी 'पाँच लाख काम के घण्टे, रोज बरबाद करते हैं। बीमारी रगों-रेशे में है। दोपहर का भोजन—मुख्य भोजन बनालेने के कारण हम आमतौर पर खूब डटकर पेट भर लेते हैं। फिर दफ्तर जाते हैं। तो टेबिल पर हाथों के तकिये से सिर टिकाकर ऊँघते हैं। घर में होते हैं तो फैलकर पड़ जाते हैं। किसी भी दफ्तर में 'लंच' के बाद ऊँघनेवाली पलटन देखी जा सकती है। साहब के कमरे में तो आरामकुर्सी खाकर सोने के लिए ही होती है। 1 बजे से 3 बजे तक तो सारा राष्ट्र ऊँघता है। . . . . . कोई नहीं सोचता कि क्रान्ति की बुनियाद भोजन की आदत के परिवर्तन पर डालनी चाहिए। 'लंच' को सुधार लें, तो विकास की रफ्तार दुगुनी हो जावेगी। . . . . . क्या काम के वक्त दफ्तरों में, दूकानों में स्कूलों में और घरों में ऊँघनेवाले और पेट पर हाथ फेरनेवाले क्रान्ति लायेंगे?' यह शब्द हैं परसाई के। इनके कहने की जरूरत उन्हें तब पड़ी जब वह स्वयं इस तरह से छककर

खिलाये गये थे कि घर आ कर घंटों बिस्तर पर पड़े-पड़े करवट बदलते रहे और पेट के दर्द से देश का दर्द अनुभव कर रहे थे।

एक जगह परसाई जी कहते हैं–'पर इस अर्थव्यवस्था की नदी पर जो हमारी डोंगी बह रही है, उसमें छेद तो है, पर वाल्व लगा है–बाहर से कुछ नहीं आ सकता, अन्दर का ही बाहर जाता है।' इस सत्य की उपेक्षा देशभर में चारों तरफ हो रही है। इसे दिन-प्रतिदिन अनदेखा और अनसुना किया जाता है। तभी तो आयात और निर्यात में भारी असंतुलन पाया जाता है।

आजकल लड़कों में ऊधम करने की–अवज्ञा करने की–अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है। कोई निदान काम करता नजर नहीं आ रहा। परसाई जी ने इस समस्या का कारण खोज निकाला है। वे लिखते हैं, 'मगर देख रहा हूँ कि श्रवणकुमार के कन्धे दुखने लगे हैं। वह काँवड़ हिलाने लगा है। काँवड़ में अन्धे परेशान हैं। विचित्र दृश्य है यह। दो अन्धे एक आँखवाले पर लदे हैं और उसे चला रहे हैं। जीवन से कट जाने के कारण एक पीढ़ी दृष्टिहीन हो जाती है, तब वह आगामी पीढ़ी के ऊपर लद जाती है। अन्धी होते ही उसे तीर्थ सूझने लगते हैं–हमें तीर्थ ले चलो। इस क्रियाशील जन्म का भोग हो चुका है। हमें आगामी जन्म के भोग के लिए पुण्य का एडवान्स देना है। आँखवाले की जवानी अन्धों को ढोने में गुजर जाती है। वह अन्धों के बताये रास्ते पर चलता है। उसका निर्णय और निर्वाचन का अधिकार चला जाता है। उसकी आँखें रास्ता नहीं खोजतीं; सिर्फ राह के काँटे बचाने के काम आती हैं। कितनी काँवड़ें हैं–राजनीति में, साहित्य में, कला में, धर्म में, शिक्षा में। अन्धे बैठे हैं और आँखवाले उन्हें ढो रहे हैं। अन्धे में अजब काइयाँपन आ जाता है। वह खरे और खोटे सिक्के को पहचान लेता है। पैसे सही गिन लेता है। उसमें टटोलने की क्षमता आ जाती है। वह पद टटोल लेता है, पुरस्कार टटोल लेता है, सम्मान के रास्ते टटोल लेता है। आँखवाले जिन्हें नहीं देख पाते, उन्हें वह टटोल लेता है। नये अन्धों के तीर्थ भी नये हैं। वे काशी, हरिद्वार, पुरी नहीं जाते। इस काँवड़वाले अन्धे से पूछो–कहाँ ले चलें? वह कहेगा–तीर्थ; कौन-सा तीर्थ? जवाब देगा–कैबिनेट; मंत्रिमंडल; उस काँवड़ वाले से पूछो, तो वह भी तीर्थ जाने को प्रस्तुत है। कौन-सा तीर्थ चलेंगे आप? जवाब मिलेगा–अकादमी, विश्वविद्यालय।' बात बड़ी गम्भीरता से सोची गयी है और व्यंग्य होकर सटीक निकल पड़ी है।

चाहे गाँव हो या शहर या महानगर, सड़कें सब जगह बनती रही हैं, बनती चली जाती हैं, और भविष्य में भी बनती रहेंगी। मगर सब जानते हैं कि पहले भी आज जैसी खराब बनती रही हैं और शायद आइन्दा अभी कई दशकों तक खराब बनती रहेंगी। अभी कोई सम्भावना अच्छी सड़कें बनने की नहीं। कुछ एक अच्छी बनेंगी भी तो उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। दैनिक जीवन का आवागमन ज्यादातर खराब सड़कों से ही होता रहता है। यह तो बात हुई अपने सीमित दायरे की। राष्ट्रीय स्तर से आगे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी साम्राज्यवाद संसार को जिन सड़कों पर लिये जा रहा है वह भी किसी से

छिपा नहीं है। कहते हैं कि 'साम्राज्यवाद ने पहिले की कुरूपता त्यागकर सुन्दर रूप ले लिया है'। परसाई जी टिप्पणी करते हैं और सही कहते हैं कि 'कुचलनेवाले को निरन्तर सुडौल होते जाना चाहिए। तभी कुचले जानेवाले उसे अपने ऊपर चलने देते हैं।' सड़क तो सत्य को प्रस्तुत करने के लिए अपनायी है परसाई जी ने। बात असल में उनकी करते हैं जो कुचल रहे हैं और जो कुचले जा रहे हैं। दोनों के रोल ने परसाई जी की आँखें उघार दी हैं। जहाँ भी जो भी नया निर्माण किया जाता है वह योजनाबद्ध प्रोग्राम के अन्तर्गत नहीं, वरन् निजी स्वार्थवश किया जाता है। तभी तो संसार उत्तरोत्तर संकटमय होता चला जाता है। निर्माण-कार्य होते भी इसीलिए हैं कि आधे से अधिक धनभ्रष्ट अधिकारीगण डकार जाएँ। इमारत बनी-तो-बनी पर बनाने वाले का बँगला भी उसी पैसे से बन जाता है। इसे परसाई जी व्यंग्य से कहते हैं कि यह चमत्कार पैसे से बन जाता है। इसे परसाई जी व्यंग्य से कहते हैं कि यह चमत्कार वैसा ही है, जैसा कि भैंस के पेट से कुत्ता पैदा हो जाए। बड़ा चुभता वाक्य लिखते हैं परसाई जी। इसी सिलसिलें में–'दशरथ की रानियों को यज्ञ की खीर खाने से पुत्र हो गये थे। पुण्य का प्रताप अपार है, अनाथालय में से हवेली पैदा हो जाती है। अब कंक्रीट की सभ्यता ने रसधारा के ऊपर पक्का पुल बना दिया है। ऊपर से अछूते निकल जाइये। कंक्रीट की सड़कों पर काँटे नहीं गड़ते, दुर्घटना होती है।' आवारा कुत्तों के माध्यम से उन लोगों पर परसाई जी ने बच्चों से गिट्टी फिंकवाई जो गिट्टी के ढेलों से घायल नहीं होते, बिना पत्थर लगे। वह कहते हैं; 'बच्चों को आवारा कुत्तों को मारने का अभ्यास हो जाये तो अच्छा है। आगे चल कर यह देश को सँभालेंगे। एक ही आशंका है–इन्हें ऊँची नस्ल के कुत्तों को मारने का अभ्यास नहीं हो रहा है। ऊँची नस्ल का चाहे कुत्ता ही क्यों न हो, दबंग होता है। जूठन चुरा कर खाने वाले घटिया कुत्ते ही पिट रहे हैं। किलो अनाज वाला जेल जा रहा है, 10 ट्रक चोरी से बेचने वाला अटारी में बेखटके रहता है। 5 रुपया घूस वाला पकड़ा जाता है, 5 लाख वाला पकड़ने वाले को डिसमिस करा देता है। अलसेशियन पर यह बच्चे भी गिट्टी नहीं फेंकते। सिक्ख ड्राइवर कहता है रास्ता खराब था जी, मगर वाहे गुरू जी की किरपा से मजे में चले आये। हिन्दू ड्राइवर कहता है–ईश्वर की कृपा से रास्ता ठीक कट गया। मुसलमान ड्राइवर कहता है–खुदा का शुक्र है कि ट्रक किसी तरह आ गया। चीन का ड्राइवर कहता है–माओं के विचारों के प्रताप से बिना दुर्घटना के ट्रक आ गया। बिना देवता के शायद आदमी का काम नहीं चलता। देवता बदलते जायें, यह अलग बात है। अमरीका के कलेण्डर का बच्चा किसे नमन करता होगा? क्या राइफल और लिंकन को? लिंकन को नमन करके क्या वह वियतनाम जाता होगा? अभागा बच्चा होगा वह। यों ये सभी बच्चे अभागे हैं, दुनिया भरके, जिनके सामने इनके बुजुर्ग राइफल और देवता को रख देते हैं। यह मेरे सामने का बच्चा भी कम अभागा नहीं है। इसके हिस्से का दूध राइफल पी रही है। बहुत बल्गर है यह चित्र। मगर यह देशभक्ति का चित्र है।' सड़क, जिसको लेकर परसाई जी चले, वह यह सड़क थी जो देश-देश में देखने को मिलती है और जिसपर राष्ट्र-के-राष्ट्र अपने और दूसरों का भविष्य अन्धकारमय बना रहे हैं। इस युगीन यथार्थ सत्य से अनवगत रहना ही षड्यंत्र

को बल दिये रहता है। इसी को भरपूर अवगत कराया है परसाई जी ने। दैनिक जीवन के सत्य से जोड़कर, ताकि जड़वत् भी चेतन हों और अपने इर्द-गिर्द की दुनिया को सही परिप्रेक्ष्य में देखकर सही कदम बढ़ायें और नयी मानवीय उपलब्धियाँ हासिल करें, न कि गर्त में गिरते जायें–गिरते जायें और संसार का रूप-रंग विरूपित कर दें।

'डेंगू, अध्यात्म और लेखक' परसाई जी के कुछ 'हड्डीतोड़' और 'हिम्मततोड़' फतवे पढ़ने लायक हैं। 'रोग कितना ही बुरा हो, नाम अच्छा होना चाहिए। अमरीकी शासक हमले को 'सभ्यता का प्रसार' कहते हैं, तो वह इतने बुरे नहीं लगते। बम बरसते हैं, तो मरनेवाले सोचते हैं कि सभ्यता बरस रही है। चीनी नेता लड़कों के हुल्लड़ को 'सांस्कृतिक क्रान्ति' कहते हैं, तो पिटनेवाला नागरिक सोचता है कि मैं सुसंस्कृत हो रहा हूँ।..... आश्रम के नाम से चकलाघर चले, तो भला ही लगता है। नैतिक सुधार के नाम से लड़कियाँ भगाई जायें तो किसी को एतराज नहीं होता। डेंगू का नाम 'मधुरिमा' होता, तो–दृश्य दूसरा होता।.... बुखार में वह जीव, ब्रह्म और माया की बातें कर रहा था। संसार असार है, शरीर नाशवान् है। आत्मा अमर है। ब्रह्म ही सत्य है। ऋषि, मुनि जिन्दगी भर तपस्या करते थे, तब उन्हें अध्यात्म-बोध होता था और बाधाएँ कितनी थीं–अप्सरा की, दूसरे ऋषि से ईर्ष्या की। मगर तुझे 101 डिग्री बुखार में ही अध्यात्म-बोध हो गया। क्या डेंगू आध्यात्मिक बीमारी है? तपस्या और बुखार में क्या कोई फर्क नहीं है? क्या अध्यात्म एक तरह का 'डिलीरियम' है? अगर है तो शहर में इस वक्त हजारों ज्ञानी हैं। वे डेंगू के बुखार के जरिये आध्यात्मिक भूमिका में पहुँच गये हैं। .....राजनीति से लेकर बुखार तक में नाटकीयता प्रभावित करती है। चुनाव में ऊँची जाति का सम्पन्न उम्मीदवार किसान के घर जाकर कहता है-दद्दा, आज तो हम तुम्हारे घर से रोटी खाकर ही जायेंगे। बाद में किसान सारे गाँव में कहता फिरता है–इतने बड़े आदमी हैं, पर घमंड बिल्कुल नहीं है।..... बिना नाटक के बड़ा काम करो, कोई चर्चा नहीं होती।.... सांस्कृतिक आदान-प्रदान की सन्धियाँ होती हैं, मगर रोग आ जाते हैं। बीमारियाँ अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी हैं। हम बाहर की बीमारी ग्रहण करने के लिये बहुत तत्पर रहते हैं। निर्यात अपना कमजोर है–सामान का हो, चाहे बीमारी का। सुना है भारतीय गाँजा और भाँग पश्चिम में बहुत पसन्द किये जाते हैं। यह धार्मिक नशे हैं। साधु गाँजा पीकर त्रिकालदर्शी हो जाता है। आल्डस हक्सले भी मानता था, नशे के बदले में हम बीमारी ले लेते हैं। पश्चिम को और नशा चाहिए, पूर्व को और बीमारी चाहिए।.... अपनी अर्थ-व्यवस्था को डेंगू हो चुका है। लेटती है तो उठा नहीं जाता। बिठा दो, तो लुढ़क जाती है। पूछता हूँ–माता जी, यह क्या हो गया? कहती है–बेटा डेंगू हो गया। बाहर से 'इनफेक्शन' आया था। मेरे बेटे को भी डेंगू हो गया था। कितना दुबला गया बेचारा।'

यह है परसाई जी का डेंगू , अध्यात्म और लेखक का विश्लेषण। कैसी अचूक पकड़ है आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और दैहिक बीमारियों की। इनकी अँगुली वहीं पहुँचती है, जहाँ देशदर्द से कराहता होता है। विदेश भी इनकी चपेट में लात खाकर

चित्त हो जाता है। यहसब बातें दिल और दिमाग का फेर नहीं है, जैसा फेर आज के बौद्धिकों के दिल और दिमाग में होता है। उनके यहाँ तो जरा-सी बात पर जमीन-आसमान के कुलावे मिला दिये जाते हैं और नाक के नीचे, देश हो या विदेश सड़ता रहता है और वे भी उस सड़ान्ध के सहभोक्ता होकर ऊल-जलूल बकते रहते हैं। दरअसल में सत्य–यथार्थ जीवन का सत्य–वही टोहते हैं, जो वैज्ञानिक दार्शनिक दृष्टि से आदमी बनने के कायल हो चुके होते हैं और दूसरों को भी आदमी बनकर जीने का दायित्व सौंपते हैं।

'ग्रीटिंगकार्ड और राशनकार्ड' में परसाई जी ने अच्छे खासे चुभते वाक्य लिखे हैं। विस्तार रूप से उनकी बानगी यहाँ पेश नहीं की जा रही।

अन्त में इस देश के सुप्रसिद्ध दर्शनीय स्थल भेड़ाघाट के इस धुँआधारिये व्यंग्यकार परसाई को, जो अबतक मेरी नजर से छिपा रहा, उसके वजनदार वचनों के लिए बार-बार हार्दिक बधाई देता हूँ कि उसने अपनी चेतना को सार्थक किया और दूसरे भी उसके सटीक विश्लेषण से समर्थ और साहसी हुए। साहित्य और कला का भी ऐसे ही जनतंत्रीकरण किया जा सकता है, जैसा करके परसाई जी ने बता दिया। सत्य की पकड़–निर्भीक अभिव्यक्ति साहित्यकार की सबसे बड़ी मौलिक उपलब्धि होती है। जो कोरी बौद्धिकता को और तथाकथित समसामयिकता को दूर-बहुत-दूर पीछे छोड़कर, जनता का मार्ग प्रशस्त करती रहती है। परसाई के तर्ज और तेवर महान् मानवीय गुणों को स्थापित करने के लिए बहुत जरूरी हैं। ऐसे ही व्यक्ति की लेखनी स्याही से नहीं–खून से लेख लिखती है–व्यंग्य करती है और हृदय बेध देती है। इस गद्य के बलिष्ठ और पुरुषार्थी प्रवीण व्यंग्यकार की रचनाएँ ऋषियों की ऋचाओं को मात करती हैं और भारतीय चिन्तन-पद्धति में आमूल परिवर्तन करती हैं। निर्लिप्त विवेक की वाणी आदमी के दु:ख -दर्द से उद्‌भूत हुई है और आदमी को ही ऊपर उठाने में जी-जान से लगी है।

❐

तीन संस्मरण

पढ़ीस जी : एक याद

वह छोटा कद, गाँधी टोपी लगाकर, बिना झकझोरे हुए पास से चुपचाप निकल जानेवाला शरीर और आसपास की हवा में, मिलने पर, दिल की धड़कन पैदा कर देनेवाला उनका वह स्वभाव न भूला है, न भूलेगा। उनकी ऊपर की कहानी न उनके चालढाल से प्रकट होती थी, न उनकी छाया से। न उस ऊपर की कहानी ने कभी धूप या चाँदनी में घूँघट ही खोला। वास्तव में यह कहानी इतनी मूक थी कि अपने हीरो को एक झलक में नजदीक से देखने पर भी, पहचान में नहीं आने देती थी। हाँ, कहानी बहुत छिपाती थी, बहुत दगा दे जाती थी, पर उनकी आँखें और मूछें, हीरो को, इसपर भी दरसा देती थीं। आँखें कहती थीं, हमारे अन्दर देखो, हम इस दुनिया के जीवों के एक अनोखे सिरताज की रोशनी लेकर इधर-उधर भटकती हैं। मूंछें कहती थीं, हमारी छाया देखो और इसमें छिपी हुई गम्भीरता के तल में पैठकर द्रवित हृदय के मुक्ता बटोर लो। मैंने उन्हें रामविलास शर्मा के यहाँ पहले-पहल लखनऊ में देखा था। उस समय मैंने उनकी ऊपर की कहानी पढ़ ली थी और उसके हीरो को पहचान लिया था। पर कई बार, जब-तब, मिलने पर मैंने पढ़ीस जी की भीतर की कहानी भी टटोली थी और अपनी ऊँगलियों के अगले द्रुतस्पर्श भाग से अनुभव भी किया था कि गुदड़ी की कड़ी सींवन और पैबन्दों में ताजा गुलाब खून की लाली के साथ पंखुरियाँ खोले था। मैंने भीतर-बाहर सब तरफ से पढ़ीस जी को जाना-पहचाना और समझा था। वह हिन्दी-साहित्य के सेवी बनकर हिन्दी के सम्राट बनने की अभिलाषा न रख कर भी सम्राट् होते, यदि अनायास मौत उस गुलाब को, गुदड़ी से, चोरी से, अँधेरा करके, न ले जाती।

वह क्या देते, क्या न देते, यह अनुमान किया जा सकता है, नाप-तौल कर नहीं कहा जा सकता। मुझे विश्वास अवश्य हुआ था कि उनकी लाजवाब लेखनी कागज पर केवल अक्षर न लिखती, बल्कि जीवन की तनती हुई नसों को जीवित निकाल कर आँखों के सामने रख देती। उनकी स्याही स्याही न थी, वरन् मूछों की दृढ़ता थी, जो कागज पर कलम के सहारे अटल हो कर रह जाती थी।

मैं आज पढ़ीस जी की एक याद लिख रहा हूँ और यह प्रयत्न कर रहा हूँ कि उन्हें अपने इस फुलस्केप कागज की सतह पर किसी तरह, छिपा हुआ, खोज लूँ और हिन्दी-जगत् को यह सूचना दूँ कि वह कागज में समा गये थे, खोये नहीं थे। पर मेरा यह दृढ़ प्रयास भी असफल होता है; क्योंकि वह नहीं मिलते। मैं अपनी द्रुत-प्राण उन उँगलियों को बार-बार कागज पर, धीरे-सपाटे सब तरह से चलाता हूँ, पर उनमें अनुभव नहीं जगता। ठंडा कागज दिल को और ठंडा कर देता है। एक बार जो सन्तरे खरीद कर

अमीनाबाद में हमसब ने छीलकर खाये थे, उनके छिलकों को आज खोजता हूँ कि उन्हीं को पाकर डूबते दिल को सँभाल लूँ; पर वह भी मेरी इस कलम की अभागी नोक में कहीं अड़ते नहीं दिखते। उन छिलकों में साहित्य का रस था, वह भी चला गया।

अब किस उमंग से लखनऊ जाऊँगा, समझ में नहीं आता। मेरे लिए पढ़ीस जी लखनऊ की प्रतिभा थे। अब दोस्तों से मिलूँगा, अमीनाबाद घूमूँगा, सुन्दर सिंह की दुकान पर कुलफी खाऊँगा; पर बारम्बार अपने दिल को उन्हीं की खोज में छोड़कर ही। न वह दिन होंगे, न वह रातें होंगी; न वह संग-साथ होगा। केवल एक हददरजे की खामोशी हर जानी-पहचानी जगह पर सिर पटकती चीखती नजर आवेगी। मैं भले ही भूलने की कोशिश करूँ; पर ऐसे लोग भुलाये नहीं जाते। वह याद आयेंगे, तबतक जबतक मैं हूँ, हिन्दी है और लखनऊ है। हिन्दी के शब्द उनकी याद दिलायेंगे। वे तड़पते हैं, पढ़ीस हमें अपनाते तो हम स्वर्ग चढ़ जाते; अब मुरदा हैं, कोषों में बन्द हैं।

उनकी कहानियाँ और कविताएँ उन्हीं की भाँति थीं। वह मशाल जला कर आगे चली हैं और अब उन्हीं मशालों की रोशनी में अपने साहित्यिक की छोटी-सी गुपचुप काया को तलाश करती हैं।

न–जाने क्यों मौत किसी साहित्यिक को गायब कर देती है। कायर, निकम्मी मौत जरा-सी हिम्मत तो करे उस साहित्यिक की जलती-दहकती पंक्तियों को छूने की, फौरन ही जल-भुनकर खाक हो जायगी। उनकी चिता ने उनके अक्षरों को, पूर्ण रूप से जीवन की सारी आँच से, तपा दिया है, जो काल की स्याही से न काले होंगे, न धुँधले पड़ेंगे, न खो पायेंगे।

'पढ़ीस जी : एक याद'–आग, आँसू और जीवन की एक अमिट याद–है, जो हिन्दी के अन्तर में सदैव रहेगी।

❐

मेरे प्रिय कवि निराला

आज से नहीं-बहुत पहले से-यानी सन् '28 से मैं अपने प्रिय कवि के नाम—निराला—से परिचित हूँ।

उन दिनों मेरे पिता जबलपुर में रहते थे। मैं भी उनके साथ रहता था। तब के वहाँ के साहित्यिकों से मेरे पिता का सम्पर्क था। वे लोग कवित्त-सवैये लिखते थे—ब्रजभाषा में—और उन्हीं को सुनते-सुनाते थे; एक-दूसरे से मान-सम्मान पाते थे। स्वर्गीय श्री कामताप्रसाद गुरु तब जीवित थे। वे खड़ी बोली हिन्दी का व्याकरण लिख चुके थे। कविता भी खड़ी बोली में जब-तब लिखा करते थे; लेकिन वे भी ब्रजभाषावालों के साथ थे। ब्रजभाषा का पक्ष बुजुर्ग सँभाले थे। खड़ी बोली का पक्ष नये लोगों के हाथ में था। मगर नयों की चल न पाती थी। खड़ी बोली की कविता दब-दबाकर रह जाती थी। मैं भी इसी माहौल में जी रहा था और सहज-सरल स्वभाव से कविता की ओर खिंच रहा था। मुझपर भी ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ रहा था। कवित्त-सवैये मुझे भी अच्छे लगने लगे थे। मैं भी उन्हें ही कविता समझने लगा था। और मैं भी ब्रजभाषा में कवित्त-सवैये गोदने लगा था। तभी की बात है कि 'मतवाला' का प्रकाशन हुआ। वह कलकत्ते में छपता था और उसे मेरे पिता लेते थे। वे पढ़ते—उनके मित्र पढ़ते और मैं पढ़ता। आज भी मुझे बखूबी याद है कि उसमें छपी मेरे प्रिय कवि निराला की कविताओं का मजाक उड़ाया जाता था और पसन्द तो उन्हें कोई करता ही न था। निराला ने अंग-भंग के वजन पर जो छंद-भंग किया था, लोग उससे नाराज थे। यह नाराजगी यहाँ तक बढ़ी थी कि लोगों ने निराला के छन्दों को 'रबड़-छन्द'—'केंचुआ-छन्द'-और 'कंगारू-छन्द' कहना शुरू कर दिया था। लोगों की जबान पर कवित्त-सवैये सवार थे। निराला के छन्द उस जबान पर न चढ़ सके थे। मेरे पिता ने अपनी नाराजगी कई कवित्त-सवैये लिखकर प्रकट की। उन्हें निराला के पास भेजा। निराला ने उन्हें 'मतवाला' में छापा। उनका उत्तर भी दिया। यहसब जो उस समय हो रहा था, मुझे भी अच्छा लग रहा था। मैं भी इस 'नाक-भौं-सिकोड़' आन्दोलन की एक लुकी-छिपी छोटी इकाई बन गया था। तिसपर भी होता यही था कि हरेक विरोधी चाहे जितना नाक-भौं सिकोड़े, रबड़ छन्द में लिखी गयी निराला की कविताएँ पढ़ता जरूर था।

इसके बाद मैं, जबलपुर से इलाहाबाद आया। अपने साथ अपने मन में, ब्रजभाषा का मोह लाया और अपने प्रिय कवि निराला के खिलाफ, अरुचि के संस्कार लाया। मैं नवीं कक्षा में भरती हुआ। ईविंग क्रिश्चियन कालेज में इण्टर तक पढ़ता रहा। रसाल जी से परिचित था ही। पिता के मित्र हैं। उनके पिता मेरे पिता के गुरु थे। रसाल जी

ब्रजभाषा की कविता के घनघोर पक्षपाती हैं। तब थे और अब भी हैं। ऊँचामण्डी मुहल्ले में रहते थे। मैं भी शायद एक साल उनके साथ रहा। उन्हीं के सम्पर्क में रहकर मैं और भी अधिक निकट–ब्रजभाषा के पास पहुँच गया। 'रसिक मंडल' की स्थापना हुई थी। उसके तत्त्वावधान में जगह–जगह कवि–सम्मेलन होते थे। 'भारती भवन' में भी होते थे। रत्नाकर जी आते थे। उन्होंने 'उद्धवशतक' लिखा था। रसाल जी के घर घण्टों बैठकर काव्य–चर्चा करते थे। मैं देखता और सुनता था। प्रभाव भी ग्रहण करता था। तभी दो–तीन बार, मैंने हरिऔध जी को भी देखा और सुना था। वे ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों में काव्य–रचना करते थे। मैं बराबर, 3–4 साल तक, इस सबसे, प्राचीन–काव्य की परम्परा में पलता रहा और उस काव्य के संस्कार ग्रहण करता रहा। इसी बीच में, मैंने ब्रजभाषा के तमाम कवियों को पढ़ डाला। जबलपुर छोड़कर, मेरे आने के बाद ही, कुछ दिन में, मेरे पिता भी इलाहाबाद आ गये और शायद एक या दो साल ऊँचा मंडी में रहे भी। मैं, यहाँ भी, उन्हें ब्रजभाषा में, सक्रिय रूप से, कविता लिखते–पढ़ते और कहते देखता–सुनता था। न घर–न–बाहर–वरन् दोनों क्षेत्रों में, मैं अपने–आपको ब्रजभाषा का पक्षपाती पाने लगा था।

इस चार साल में यह तो हुआ कि मैंने ब्रजभाषा को पा लिया और ब्रजभाषा ने मुझे पा लिया; लेकिन इसपर भी, ब्रजभाषा का होकर भी, मैं उसका न रह सका। आखिरकार खड़ी बोली की जीत हुई। वह मेरी हुई और मैं उसका हुआ। इस होने की एक कहानी है। वह कहानी कुछ इस प्रकार है।

उसी जमाने में इंडियन प्रेस से पन्त जी का 'पल्लव' प्रकाशित हुआ था। उसकी एक प्रति ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज की लाइब्रेरी में आयी थी। संयोग से वह वहाँ मुझे देखने को मिल गयी। मैं उसे पढ़ने लगा। घण्टों कई–कई बार मैंने उसे वहीं बैठ–बैठकर पढ़ा। हर बार मुझे नया ही आनन्द मिला। समझ तो पाता न था। फिर भी पन्त जी की प्रकाशित रचनाएँ बरबस अपना बना लेती थीं। उनमें नयापन था–असाधारण सौन्दर्य था–प्रकृति का अनदेखा स्वरूप अपनी नवीनता से मुझे अभिभूत कर देता था। अबतक जो माधुर्य और असाधारण और हृदयस्पर्शी सौन्दर्य मुझे ब्रजभाषा की कविता में ही उपलब्ध हो सका था, वह सब–का–सब अब मुझे खड़ी बोली की इन रचनाओं में एक जगह उपलब्ध हो गया। मेरी यह धारणा कि काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही है और वही कविता की भाषा है, चूर–चूर हो गयी। पन्त जी से पहले खड़ी बोली के अनेक कवियों को पढ़ चुका था। कोर्स में 'जयद्रथ–वध' 'खंडकाव्य' भी पूरी तरह चाट चुका था। 'प्रिय–प्रवास' का सस्वर कविता–पाठ अपने पिता के कण्ठ से निःसृत होता बारम्बार सुन चुका था। फिर भी 'पल्लव' पढ़ने पर उससे मोहित हुआ। पन्त जी की पुस्तक ने मुझे ब्रजभाषा के मोह–जाल से निकाला और तब मैं दिनोंदिन खड़ी बोली का होता चला गया। इस ओर जाने में तब की तमाम मासिक पत्रिकाओं ने भी मुझे दिशा दी और दिखायी। तब के अनेकानेक कवियों की रचनाओं ने भी मुझे उसी ओर पहुँचाया, जहाँ निराला और निराला का काव्य मेरा इन्तजार कर रहे थे।

इसके बाद, विरोध-पर-विरोध होने के बावजूद पन्त और निराला लोकप्रिय होते चले गये। छायावाद का अपना स्थान बनने लगा। लोगों की रुचि बदली। नयों में—आधुनिकों में—विद्यार्थियों में—प्रोफेसरों में पन्त और निराला को मान्यता मिली और सम्मेलनों में इनको सर्वाधिक सराहा जाने लगा। मैं नवीं कक्षा से लेकर बी० ए० की कक्षा तक इलाहाबाद में ही पढ़ता था और यह मुझे बखूबी याद है कि सन्' 34 तक छायावाद की जड़ें जम गयी थीं और पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी का नाम हो गया था। मैं इन कवियों की रचनाएँ पढ़ता था और इन्हें पढ़-पढ़कर ही अपने कवित्व को प्रेरित करता था। मैं भी कविता लिखता था। मेरे तब के लिखने में सबके लिखने का प्रभाव था। लेकिन मैं न पन्त जैसा लिख सका, न निराला जैसा—न प्रसाद जैसा—न महादेवी जैसा। सच तो यह है कि मैं अपनी कविता लिखना चाहता था और उसे ही खोजने में समय बिता देता था और कर कुछ न पाता था। तब मेरी कविता के शुरुआत के दिन थे।

मेरे प्रिय मित्र शमशेर मेरे साथ हिन्दू हॉस्टेल में रहते थे। हम बी० ए० के विद्यार्थी थे। श्री नरेन्द्र शर्मा भी हमारे घनिष्ठ मित्रों में थे। वे भी उसी हॉस्टेल में रहते थे और हमारे साथ पढ़ते थे। वे दोनों कविताओं के मर्मज्ञ तब भी थे। शमशेर तो मुझे अंग्रेजी कविताएँ सुनाया करते थे। मैं मुग्ध होकर सुनता रहता था। तभी मैंने कीट्स को पंसद किया। शेली से मेरी पटरी न बैठी। ऐसा लगा था कि कीट्स कवि होने के साथ-साथ सौन्दर्य-प्रेमी भी है—ऊँचे दर्जे का कलाकार भी है। वह मेरे मन को भा गया।

इधर कीट्स का जादू मेरे सिरपर चढ़ा, उधर पन्त मुझे कम रुचने लगे। निराला और-से-और अधिक रुचने लगे। और फिर वकालत पास करने के बाद से—कानपुर से बाँदा आकर रहने के बाद से मुझपर निराला-ही-निराला छाये रहे और आजतक वही छाये हैं। यह सबकुछ अपने-आप होता गया; लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मैं पन्त या प्रसाद या महादेवी के कृतित्व को नकारता हूँ। ऐसा कदापि नहीं है। उनके कृतित्व की भी सराहना करता हूँ; पर इस सबके बावजूद मेरा हृदय निराला को अपने अधिक पास पाता है। इसीलिए निराला मेरे कवि हैं और मेरे प्रिय कवि हैं।

वकील होने के दो या तीन साल बाद मैं बीमार पड़ा। मुझे इलाज के लिए दो महीनों तक लखनऊ रहना पड़ा। श्री रामविलास शर्मा से मैं पहले ही सम्पर्क में आ चुका था। वह निराला के साथ रहते थे। शायद तब निराला मकबूलगंज में रहते थे। बात-बात में कवियों और कविताओं की चर्चा होती थी। शर्मा जी भी कीट्स पर अपनी थीसिस तैयार कर रहे थे। उन्हें कीट्स प्रिय था। मुझे भी प्रिय था। फिर क्या था, मेरी और उनकी रुचि मिल गयी। हम दोनों निराला के प्रेमी थे ही; अब और घनिष्ठ हो गये।

इसके बाद युद्ध-काल में बाँदा में एक कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। तब यहाँ श्री राठौर एस०डी०एम० बाँदा थे। शायद श्री मेहता जिलाधीश थे। इस सम्मेलन में निराला को आमन्त्रित किया गया, वे आये, मैंने बुलाया था। वे सुपास की जगह ठहराये

गये। समय कवि-सम्मेलन का हो गया था। उन्हें बुलाया गया। वही नायब तहसीलदार के द्वारा। मैंने देखा। निराला का स्वाभिमान जाग उठा। ऐसे महाकवि को एक छोटे अफसर के द्वारा बुलाया गया। वे इनकार कर गये। न जाने पर आमादा हो गये। बात बिगड़ रही थी। जनता खचाखच बैठी थी। पण्डाल में तिल धरने को जगह न थी, इन्तजार था निराला का। मैंने धीरे से कहा: 'जनता आपके इन्तजार में बैठी बार-बार बुला रही है-आप चलें-आप किसी अफसर के बुलाने से नहीं आये—न आप अफसर को कविता सुनाने जा रहे हैं'। यह कहना था कि निराला चल पड़े। वहाँ पहुँचे तो खड़े होकर 2 घण्टे तक, विलक्षण भाव-मुद्रा से, लगातार एक के बाद एक कविता सुनाते चले गये। सब तरह की सुनायी। 'राम की शक्ति पूजा' का पाठ इस कण्ठ और भाव से सुनाया कि लोग मन्त्र-मुग्ध रह गये। 'गरम पकौड़ी' भी सुनायी। गीत भी सुनाये। गाये भी। मुक्त छन्द की ओजस्वी कविताएँ भी सुनायीं। 'बादल राग' छा गया। 'शिवाजी का पत्र' गूँज उठा। ऐसी थी वह रात जैसी फिर कभी नहीं आयी। मैं सही कहता हूँ कि उस दिन निराला की महत्ता का बोध सबको हुआ और उसी दिन बाँदा में खड़ी बोली ने अपना अविस्मरणीय लोकप्रिय पद पाया; वरना मेरे शहर के लोग तो छायावाद को छूत समझते थे—उसकी हँसी उड़ाते थे। हमारा शहर बाँदा, पिछड़े प्रदेश का पिछड़ा शहर है। यही नहीं, घोर परम्परावादी है। न जीवन में—न यहाँ के काव्य-लोक में नयी रोशनी पहुँची है। इस शहर को केन नदी का पानी तो जरूर हरा किये है, वरना तो यहाँ चारों ओर धूल-धक्कड़ और हाय-हत्या की भरमार रहती है। बाबा तुलसीदास और पद्माकर ही ऐसे सौभाग्यशाली कवि हुए हैं, जो यहाँ के लोगों को अच्छे लगे हैं। रहीम, वृन्द, गिरधर कविराय आदि भी याद किये जाते हैं। लेकिन बाबा तुलसीदास की या पद्माकर की तरह नहीं। बरसों बाद—तुलसीदास के शताब्दियों बाद—यह गौरव निराला को ही प्राप्त हो सका कि उन्होंने इस नगर में अपने अभूतपूर्व काव्य-पाठ से खड़ी बोली और छायावाद की धाक जमायी। अब मेरे नगर के लोग खड़ी बोली को प्यार करते हैं और छायावाद से नफरत नहीं करते। लोगों को निराला याद आते हैं। कवि-सम्मेलनों की परम्परा चल निकली है। ब्रजभाषा बिसर गयी है। पीढ़ी-की-पीढ़ी खड़ी बोली में कविता लिखती है। निराला के प्रयोगों को यहाँ भी फलने-फूलने का अवसर मिलने लगा है। इसलिए भी निराला मेरे प्रिय कवि हैं।

अभी हाल में ही रामविलास शर्मा की नयी किताब—'निराला की साहित्य-साधना'—प्रकाशित हुई है। मैंने उसे पढ़कर जाना कि महिषादल के राजा होने का सौभाग्य बाँदा जिले के एक गरीब ब्राह्मण-कुमार को प्राप्त हुआ था। महिषादल में ही तो निराला के पिता श्री रामसहाय सिपाही थे। वहीं तो निराला का जन्म हुआ था। वहीं तो निराला भी कुछ दिन नौकर रहे थे। हो सकता है कि निराला भी इसीलिए बाँदा से लगाव महसूस करते थे और यहाँ के लोगों से स्नेह रखते थे और उन्हें अपनी कविताएँ सुनाने में गर्व और गौरव अनुभव करते थे। इस वजह से भी निराला मेरे परमआत्मीय कवि हो गये हैं।

मैं अपने प्रिय कवि की कविताएँ पढ़ता हूँ और उनके कथ्य और शिल्प पर मुग्ध होता हूँ। उनके गीत पढ़कर, मैं उन गीतों को, विश्व के अमर गायक कवियों के अमर गीतों के समकक्ष रखता हूँ। उनकी 'राम की शक्ति-पूजा' को पढ़ कर मैं अपने इस संत्रासित और संशयी युग से ऊपर उठकर, आदमी होकर आदमी का जीवन जीने में वही लक्ष्य प्राप्त करता हूँ, जो लक्ष्य राम ने प्राप्त किया था। उनके 'तुलसीदास' को पढ़ कर मैं भी अपने देश के जन-मानस में बसकर उसे उत्प्रेरित करना चाहता हूँ। उनके मुक्त-छन्दों का प्रवाह पाकर मैं भी अपने प्रदेश को बल और वेग देकर जिलाना और जागृत करना चाहता हूँ। उनके तप से तपी उनकी जैसी भाषा लिखकर मैं भी अपने प्रदेश को शक्ति, शील और सौन्दर्य की वाणी देना चाहता हूँ।

निराला में—मेरे प्रिय कवि में—मुझे वह सब-कुछ मिलता है, जो अन्यत्र नहीं मिलता। इसलिए मैं उन्हें महाकवि मानता हूँ। मुझे विश्वास है देश में अवश्य ही उनके काव्य का वही मान-सम्मान होगा, जो तुलसी के काव्य का हुआ है।

❐

मेरा दोस्त रामविलास

ऊँच गाँव, जिला उन्नाव में जन्मे, रामविलास के विद्यार्थी जीवन के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता। वह झाँसी में भी रहे और पढ़े। यहाँ के बारे में भी मेरी कोई जानकारी नहीं है। इसके बाद वह लखनऊ में रहे और वहीं से उन्होंने अंग्रेजी में एम०ए० किया और फिर कीट्स पर अपनी पी-एच०डी० की थीसिस लिखी और वह उनके विद्वान् प्रोफेसर सिद्धान्त को बहुत ही पसन्द आयी। रामविलास तब साहित्य के डॉक्टर हो गये। एक बार मैं अपने कुछ मित्रों के साथ कानपुर से तभी लखनऊ गया और वहाँ, मेरठ से आये हम लोगों के साथ टिके एक युवक ने हमसे यह बताया कि वह आई०सी०एस० में बैठे रहे हैं। इसलिए प्रोफेसर सिद्धान्त से मिलने गया तो सिद्धान्त साहब ने उसको रामविलास से मिलने के लिए कहा और उसी से उन्होंने तब रामविलास की बड़ी तारीफ की थी। उसने मुझसे डॉक्टर रामविलास से मिलने की इच्छा प्रकट की और वह उनसे मिला भी। कीट्स मुझे भी बहुत अच्छा लगता था। इसलिए सिद्धान्त साहब की तारीफ से मैं रामविलास के प्रति और भी आत्मीयता से खिंच गया।

दूसरी बार कानपुर से मैं व मेरे दो मित्र, साइकिलों से लखनऊ गये। वहाँ हम लोग निराला के मकान में दोपहर के बाद पहुँचे। निराला की कविताएँ मुझे कई साल से बहुत प्रिय लगने लगी थीं। इसलिए मैं अपने प्रिय महाकवि के यहाँ ही उनका सान्निध्य पाने लिए ठहरा। महाकवि फर्श पर दरी बिछाए, कम्बल ओढ़े, तम्बाकू खाये बैठे हुए थे। हम लोगों ने तीनों साइकिलें उनके आँगन में रख दीं। इसके पश्चात् निराला हमें अपने उस होटल में ले गये, जिसमें वह भोजन किया करते थे। उन्होंने वहाँ रसोइये को माकूल हिदायत दी और हमारे भोजन का प्रबन्ध सुचारु रूप से करने को कहा। इस बीच हम लोग वहीं हाथ-पाँव और मुँह धोने-धाने में लग गये तो मौका पाकर निराला जी वहाँ से सटक गये और हम लोग उनकी उस वक्त की अनुपस्थिति से कुछ अनमने-से हो गये। लेकिन रसोइये के कहने पर, कि महाकवि घर गये हैं और उसे खिलाने को आदेश दे गये हैं। हम लोगों ने खाना खाया और जब उसके बाद घर पहुँचे तो देखा कि निराला जी बाल्टी झाड़ू लिए पूरा कमरा साफ कर चुके थे और आँगन की सफाई में लगे हुए थे। उस वक्त वहाँ रामविलास न थे। इस स्थिति में निराला को देखकर हम लोग अभिभूत हो गये और उनकी मानवीयता के कायल हो गये। रामविलास ने इसी निराला को, उनके साथ रहकर, और उसे अलग रहकर भी निरन्तर बड़े आत्मीय ढंग से देखा और विवेक से जाँचा और परखा। निराला इस प्रकार के व्यक्तित्व के यदि न हुए होते,

भले ही वह महाकवि होते, तो शायद रामविलास उनके प्रति इतनी गहराई से न आकृष्ट हुए होते, जितनी गहराई से वह आकृष्ट हुए थे। इससे मैंने जाना और बराबर जानता चला गया कि रामविलास आदमी की आदमियत की कद्र करते हैं और उसके मानव-मूल्यों पर सविशेष ध्यान देते हैं और फिर उसके रचे हुए कृतित्व के गुण-दोष पर, बिना संकोच-शील के अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। तब यह बात इतनी स्पष्ट न हुई थी। लेकिन निराला की साहित्य-साधना के प्रकाशित हुए तीनों खण्डों को देखकर बाद को, पूरी तरह से स्पष्ट हो गई और मेरा पहले का धुँधला भाव-बोध पूरी तरह से उजागर हो गया।

इसके बाद मैं सन् '38 में वकील होकर बाँदा में वकालत करने लगा। रामविलास से कभी-कभी पत्र-व्यवहार हो जाता था। वकालत करने के दौरान दो-चार साल में बीमार पड़ा तो मुझे लखनऊ जाकर प्राकृतिक चिकित्सा करानी पड़ी। वहाँ मैं अपने साढ़ू के यहाँ शायद दो महीने तक, माडल टाउन में रहा, और बीच में अक्सर ही रामविलास के घर जाकर उनसे बराबर मिलता रहा और साहित्य के विषय में बातचीत करता रहा। शायद तब नरोत्तम नागर भी वहीं एक मकान में रहा करते थे। निराला जी लखनऊ में ही थे। इस दौरान में भी मैंने देखा कि रामविलास अपने अध्ययन में पूरी तरह से संलग्न रहते थे और शायद अपनी कीट्स वाली थीसिस स्वयं ही टाइप भी किया करते थे। वह मुझे कीट्स की और अन्य कवियों की कविताएँ सुनाते और मैं अच्छी-से-अच्छी रचनाओं से परिचित होता रहा। स्वर्गीय पढ़ीस जी तब जीवित थे। वह भी रामविलास के हृदय के निकट के लोक-कवि थे। वे अच्छे स्वर से अपने गीत गुंजित करते थे। 'पपिहरा बोल जा' वाला गीत मैंने तभी नुमाइश के लाउडस्पीकर से गूँजते हुए चलते-चलते सबके साथ सुना था। मैं रामविलास की इस साहित्य-साधना को देखकर दंग रह जाता था, क्योंकि मैं स्वयं इतनी गहरी साधना करने में अपने को कभी भी नहीं लगा सका और मेरे लिए इतना घनघोर श्रम करना और किताबों-पर-किताबें पढ़ना और फिर नोट्स-पर-नोट्स लेना जानलेवा काम लगता था। आज अब लगभग 40 साल के बाद जब मैं उन दिनों की बातों पर सोच-विचार करता हूँ तो मुझे अपने कामचोर जाँगर पर ग्लानि होती है और अपने मित्र रामविलास के जबर जाँगर पर प्रसन्नता होती है कि उन्होंने अपने जाँगर के बल पर हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में इतना गहन-गम्भीर अध्ययन किया और उसी का परिणाम यह हुआ कि वह हिन्दी-साहित्य को आज इतनी पुस्तकें दे सके, जिन्हें मैं पढ़ सका और जिन्हें दूसरे पढ़ते और समझते हैं।

मैंने और भी दूसरे साहित्यकारों के आलोचनात्मक ग्रन्थ पढ़े हैं। मैंने उन ग्रन्थों में भी बहुत-सी अच्छी बातें पायीं हैं। लेकिन यह एक सबसे बड़ी खूबी रामविलास के ग्रन्थों की है कि उनकी चेतना प्रारम्भ से आज तक,असंदिग्ध रूप से सही अर्थ में जनवादी साहित्यिक सृजन करने में लीन रही है। उन्होंने प्रेमचन्द पर जो पुस्तक लिखी, वह भी प्रेमचन्द की जनवादी चेतना को उसकी समग्रता में उभार कर प्रस्तुत करती है। उन्होंने पं० रामचन्द्र शुक्ल पर पुस्तक लिखी। वह भी उनकी मौलिक जनवादी चेतना

का प्रतिबिम्बन करती है। उन्होंने भारतेन्दु-युग पर पुस्तक लिखी। वह भी वैसी ही सटीक जनवादी चेतना के ज्वार को व्यक्त कर सकी। उन्होंने तुलसीदास और कालिदास पर जो लेख लिखे, वे भी उनके जनवादी मूल्यांकन के उज्ज्वल उदाहरण हैं। सन् 1857 पर लिखा गया उनका बड़ा ग्रन्थ भी अपने-आप में इतना कारगर सिद्ध हुआ कि उसके बारे में जो भ्रांतियाँ इतिहासकारों ने फैला रखी थीं, वे एक-एक करके असत्य सिद्ध होती चली गयीं और 1857 की महत्ता प्रतिबिम्बित हो सकी। राष्ट्रभाषा हिन्दी पर लिखी गयी उनकी पुस्तक भी एक अनूठी और साक्ष्यपूर्ण पुस्तक है, जिसमें तथ्यों को देकर हिन्दी के विरुद्ध प्रस्तुत किए जा रहे तर्कों का विखण्डन किया गया है और भाषा के प्रश्न को जाति से (यानी नेशन से) जोड़कर यह सिद्ध कर दिया गया है कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के सर्वथा योग्य है और अन्य कोई भाषा नहीं है। शेक्सपियर के दु:खान्त नाटकों पर अंग्रेजी में लिखी गयी उनकी पुस्तक भी एक विलक्षण पुस्तक है, जिसे पढ़ते समय शेक्सपियर की चेतना का सही रूप प्राप्त होता है। अनेकानेक ब्रैडले ऐसे सिद्धान्तकार और आलोचकों के द्वारा प्रतिपादित विभिन्न विचारों को रामविलास ने अन्त: और बाह्य साक्ष्य दे-देकर चुटकी बजाते हुए, असंगत और असत्य सिद्ध कर दिया है और भारतीय सांस्कृतिक चेतना के तुलनात्मक अध्ययन से शेक्सपियर के दु:खान्त नाटकों के विषय में अपनी मौलिक स्थापनाएँ दी हैं, जो किसी भी तरह से देखी जाएँ तो शेक्सपियर की महत्ता को ही बढ़ाती हैं। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों पर भी उनकी पुस्तक इसी प्रकार की अनूठी पुस्तक है। पता नहीं कि इन पुस्तकों की कोई चर्चा देश-विदेश में हुई या नहीं, लेकिन यदि नहीं हुई तो यह बुरा हुआ। इनकी चर्चा होनी चाहिये। इन्हें पढ़ कर साहित्य के विषय में और काव्य तथा नाटकों के विषय में सम्यक और सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

यदि मैं यह कहूँ कि रामविलास की प्रत्येक पुस्तक तत्सम्बन्धी विषय का साक्ष्यपूर्ण, तथ्यात्मक शोधकार्य प्रस्तुत करती है तो यह मेरा कहना शत-प्रतिशत सही होगा। वैसे इस गुटबाजी के युग में इन सभी पुस्तकों को वैसा स्वीकार नहीं किया गया जैसा कि किये जाने की अपेक्षा थी।

और-तो-और 'भाषा और समाज' पर लिखी गई रामविलास की पुस्तक तबतक की प्रकाशित सभी पुस्तकों से अधिक वैज्ञानिक और सत्यान्वेषी हुई है। वे सिद्धान्त जो भाषा-विज्ञान के क्षेत्रों में इस पुस्तक के पहले से आँख मूँद कर स्वीकार किए जाते रहे हैं, वे सब-के-सब उलट गये और इस पुस्तक में जो सिद्धान्त या निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे मुझे बड़े सार्थक और सत्य लगते हैं। मैंने इस पुस्तक को पढ़कर भाषा की शक्ति और सामर्थ्य और उसकी क्षमताओं से पहली बार परिचय पाया और तभी मैं काव्य में प्रयुक्त हुई भाषा के समग्र सौन्दर्य-बोध को नये सिरे से ग्रहण कर सका और स्वयं भी कविता लिखने में अपनी भाषा को सचेत रूप से संवेदनशीलता और अर्थवत्ता देने में रत हुआ।

आज भी रामविलास भाषा-विज्ञान पर बुरी तरह से शोध करने में पिल पड़े हैं और

मुझे तो ऐसा लगता है कि वह अब जो नई पुस्तक प्रस्तुत करेंगे, वह और भी पूर्ण और परिपक्व विचारों की होगी और उसके पढ़नेवालों को नयी दृष्टि और दिशा मिलेगी।

रामविलास ने आगरा से 'समालोचक' का सम्पादन किया। उनके सम्पादन-काल में निकले अंक महत्त्वपूर्ण सामग्री से सम्पन्न होते थे। उनमें स्वयं रामविलास के जो लेख प्रकाशित होते थे, उनसे भी मेरी चेतना को विकसित होने में पर्याप्त सहयोग मिला है, पता नहीं क्यों वह बन्द हो गया? वैसी पत्रिका की आज अब और भी अधिक जरूरत है, जो भ्रम और भ्रान्तियाँ आज काव्य के क्षेत्र में, नाटक और एकांकी के क्षेत्र में, कहानियों और उपन्यासों के क्षेत्र में और आलोचना के क्षेत्र में फैली हैं, उनसब के विषय में कोई समर्थ साहित्यकार ही सही विचार प्रस्तुत कर सकता है। वैसे तो बहुत से ख्यातिनामा साहित्यकार हैं और वह इस ओर काम भी कर रहे हैं, लेकिन सही समाजवादी, वैज्ञानिक और जनवादी दृष्टि से जो विवेचन होना चाहिए वह नहीं हो रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है कि आजतक जो बहुत-सी आलोचना इस सम्बन्ध में प्रकाशित हुई है वह समसामयिकता और आधुनिकता के हेर-फेर में पड़कर प्रचलित गलत ख्यालों को प्रश्रय देने लगी हैं और मानवीय मूल्यों के विघटन होते जाने में सहायक हुयी हैं और उसकी उस क्षमता को 'नई आलोचना' के नाम से जोड़कर महत्त्वपूर्ण साबित करने का प्रयास किया गया है। यह किसी भी दृष्टि से स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। मैं जानता हूँ कि मेरी यह बात बहुतों को बुरी लगेगी, लेकिन समय ने स्वयं अब यह सिद्ध कर दिया है कि जिस तौर-तरीके से नये के नाम पर हो रहे तथाकथित साहित्यिक सृजन को शोभनीय गौरव और गरिमा प्रदान की गयी है, वह आलोचकों की चेतना के भटकाव की अधिक सूचक है बजाय उनके सही और सटीक मूल्यांकन करने की क्षमता के।

आलोचक रामविलास के लिये साहित्य वाक्‌विलास नहीं है और न ही वह मन बहलाने का एक साधन है। रामविलास साहित्य को एक सचेतन सृष्टि की तरह बाहर-भीतर से देखते-समझते और इससे प्रकट होनेवाले मानव-बोध को पकड़ते हैं और उससे संबद्ध संयोजन और शैली के स्थापत्य को एक इंजीनियर की तरह आँकते हैं, कि यह जो साहित्य की इमारत प्रस्तुत की गई है, वह किस नींव पर आधारित है और किस योजना तक; किस दार्शनिक विचार, किस मानवीय भूमि पर और किस ऊँचाई से कहाँतक उदात्त बनाई गई है, और वह इमारत किसके हित में समर्पित की गयी है। ऐसा करने के लिए रामविलास ने सचमुच बड़ा जी-जान लगा दिया है और तब वह विवेक-संगत साहित्य-मर्म को उद्‌घाटित कर सके हैं। वह सहज ही किसी कृति से प्रभावित होनेवाले भावुक व्यक्ति नहीं हैं कि जैसे ही हवा बही कि उनके चल-दल चंचल हो उठे। वह क्लासिकल साहित्य के अध्यवसायी अध्येता रहे हैं और तब वे साहित्य के महान् मानवीय प्रतिमानों से अवगत हुए हैं। वह मानव की प्रगतिशील गौरव-गाथा की सभी उपलब्धियों को अपनाते हुये आज संवेदनशील मर्मज्ञ होते चले गये हैं और मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति से अपने यहाँ हो रहे तमाम साहित्यिक हलचलों का

तथ्यात्मक मूल्यांकन करते रहे हैं। उनकी बख्शने की आदत कभी नहीं रही, चाहे जो भी और जिस स्तर का रहा हो। अगर रामविलास की दृष्टि दुर्बल और जीर्ण-शीर्ण साहित्यिक पक्ष पर पड़ी है तो उसे उन्होंने उद्घाटित किया है और ऐसा करने में उन्हें पछतावा या पश्चात्ताप् कभी नहीं हुआ। लेकिन इस पर भी उन्होंने उसकी वजह से उस साहित्यकार से कोई वैमनस्य नहीं माना और न ही उसके प्रति वे अशिष्ट या अभद्र हुए हैं। इस सम्बन्ध में सभी जानते हैं कि पंत जी की कुछ कृतियों के विरुद्ध लिखकर भी वह उन्हें निरन्तर आदर-भाव से देखते आये हैं। और कई लोग भी उनकी आलोचना से मर्माहत हुए हैं, लेकिन वह बात बीतने पर फिर ऐसा नहीं हुआ कि उन्होंने मर्माहत व्यक्तियों से वैयक्तिक द्वेष रखा हो। अपने इस तथाकथित दो टूक बात कहने की वजह से यह जरूर हुआ है कि उनके वे पहले के कई साथी उनसे बुरा मानकर अलग जा पड़े हैं और फिर आजतक भी अपने को उनके नजदीक नहीं ला सके हैं, यह दुर्भाग्यपूर्ण बात रही है। मैं यहाँ पर इनका नाम नहीं लेना चाहता और न ही उससे कोई लाभ होगा।

ऐसी बात नहीं है कि रामविलास पर दूसरे साहित्यिकों ने अपने तीर न छोड़े हों और उनके विरुद्ध लिखा न हो। लेकिन जहाँतक मैं जानता हूँ रामविलास इस तीरंदाजी से कभी भी विचलित नहीं हुए। वह बिना इसकी परवाह किए, अपने को सत्य की खोज में गहरी पैठ लगाते ही चले आये और इसी कठोर परिश्रम का परिणाम यह हुआ कि वह एक-से-एक पुस्तकें अबतक लिखते चले जा रहे हैं। उनकी चेतना जब से जागी, तब से आजतक जगी हुई वैज्ञानिक साहित्य रचती चली आई है। वह विपथगा कभी नहीं हुई। इसी का परिणाम है कि वह कभी भी साहित्य के क्षेत्र में फैशनपरस्ती के चक्कर में नहीं पड़े, साहित्य के विकास की निरन्तरता पर विश्वास करते हुए उससे वे तथ्य खोज-खोजकर सामने लाते गये, जो दूसरे आलोचक प्रस्तुत नहीं करते रहे और सहज-सरल ढंग से आगे बढ़ते हुए मूलभूत शंकाओं और समस्याओं से कतराते-बचते रहे। कतराना और बचना और बचकर समस्याओं से आँख मूँद लेना रामविलास ने जाना ही नहीं। वह अपने तर्कों और स्थापनाओं का उत्तर तर्कों और स्थापनाओं से पाने के कायल हैं, न कि सतही चुटकीकाट बकवास से।

रामविलास को साहित्य अकादमी से उनकी पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना' पर पुरस्कार मिला। उन्होंने दिल्ली में आयोजित पुरस्कार समारोह में हिन्दी में भाषण किया जबकि वहाँ उनसे पहले के लोग शायद अंग्रेजी में भाषण दिया करते थे। ऐसा मैंने कई विश्वस्त सूत्रों से सुना था। उन्हें पुरस्कार दिया गया, यह अकादमी के लिये गौरव की बात हुई, लेकिन इस पुरस्कार देने के पीछे की कहानी न कही जाय तभी अच्छा है, क्योंकि वह कहानी उस निर्णायक के लिये अशोभनीय है, जिसने तब इस पुस्तक के विपक्ष में अपना मत व्यक्त किया था।

मैंने इसके बाद भी देखा है कि रामविलास ने विपक्ष के मतदाता निर्णायक से मिलने पर भी इसकी कोई चर्चा नहीं की और सहज स्वभाव से उनके प्रति आदर से

व्यवहार करते रहे। यह उदारता रामविलास के चरित्र को और भी उज्ज्वल बनाती है।

वह आजतक विदेश नहीं जा सके। पहले कभी एक निमंत्रण उन्हें मिला था, लेकिन तब सरकार ने उन्हें जाने की अनुमति नहीं दी थी।

वह इतना पढ़-लिख गये और लखनऊ और आगरा में बरसों रह भी चुके, फिर भी महानगरों की पूँजीवादी व्यवस्था से आजतक, उसके अनुरूप न हो सके और वह सहज-साधारण-कर्म-किसान के बेटे की तरह जीवन और साहित्य में सुनहली फसल उगाते चले आये। वह घर में सादे तौर से रहते हैं और बाहर भी उसी सादगी से अपना काम करते हैं। मुझे लखनऊ और आगरा में उन्हें अच्छी तरह से जानने के अवसर मिल चुके हैं। मैंने उनके हाथों से हथपोई रोटी भी लखनऊ में उनके यहाँ खाई थी। आगरे में भी उन्हीं के यहाँ कई दिन तक दो बार ठहरा और फिर हम लोगों ने खूब घुमाई की और घूमकर लौटने पर उनकी मालकिन के बनाये हुये देशी घी के परांठे छक-छककर खाये। एक बार तो नौ-दस बजे दिन को पहुँचते ही रामविलास ने मुझे पास बिठलाकर हाथ-मुँहतक धोने नहीं दिया था और कटोरों में खीर रखकर, मुझे खीर के लालची को लुभा लिया था और उन्होंने और मैंने फूल के भरे कटोरों की खूब सीझी खीर, रुचि और रस से खाई थी, वह दिन नहीं भूलता।

मैं अपने पेशे से बहुत क्षुब्ध रहता था। पैसा कमा सकने में कमजोर पड़ता था और जीवन-यापन का कोई दूसरा रास्ता खोजता था। इसका जिक्र मैंने तब रामविलास से एक पत्र में किया। उन्होंने मुझसे आगरे आकर अपने यहाँ रहने के लिये कहा और चिन्तित न होने की सलाह दी। यह उनके चरित्र की निर्मलता मुझे आजतक याद है।

वह दो-तीन बार बाँदा भी आये। एक बार जब हमने बाँदा में 'निराला पर्व' मनाया था, तब वह भी आये थे और महादेव साहा भी आये थे। मुंशी जी, के पुस्तक-घर में यह पर्व मनाया था। उस समय मैं बेहद प्रसन्न हुआ था और शायद तभी रामविलास ने मुझसे कहा था कि जब अकेले में जी घबड़ाये तो मैं वृन्दावनलाल वर्मा के यहाँ जाकर रह आया करूँ, लेकिन मैं ऐसा न कर सका और वृन्दावनलाल जी से अपरिचित ही रह गया और वे इस संसार से चले भी गये।

एक बार की बात है कि मैं इलाहाबाद गया हुआ था और रामविलास भी वहाँ आये हुये थे। हम लोग सिविललाइन्स में श्रीकृष्णदास के घर में मिलते और घण्टों साहित्य पर बातचीत करते। 'हंस' का कोई विशेषांक निकलने वाला था। इसमें मुझे काँग्रेस की प्रगति-विरोधी पकड़-धकड़ के विरुद्ध कविता भेजनी थी। मैं उस समय तक उसे नहीं लिख पाया था। रामविलास को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मुझे वहीं लिखने के लिये प्रेरित किया और मुझसे मेरे मन की बात लिखवाकर और 'हंस' में भिजवा कर ही रहे। वह वही कविता थी, जिसका जिक्र अमृतराय ने 'धर्मयुग' में अपने उस लेख में किया था, जिसमें नामवर सिंह की पुस्तक को लेकर अपनी सही प्रतिक्रिया

व्यक्त की थी। उस कविता में मैंने काँग्रेस को मुँह बाये सुरसा की तरह व्यक्त किया था। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि रामविलास कवि को आदेश पर कविता लिखवाने के पक्ष में थे और न इसका यह मतलब है कि मैं किसी के आदेश पर कविता लिखने को अपना कर्त्तव्य समझता था। मैं स्वयं कविता लिखना चाहता था, किन्तु आलस्यवश अभिव्यक्त नहीं कर रहा था। रामविलास ने मेरा वह आलस्य तुड़वाया और मैं अपनी अभिव्यक्ति कर सका।

कविता के सम्बन्ध में रामविलास के विचार हैं कि 'कविता-कविता ही न हो, बल्कि अच्छी-से-अच्छी हो और ऐसी हो कि सत्य से सँवरी और शिल्प से भी परिपक्व हो और स्वयं में पूर्ण हो, ताकि वह दूसरे को अभिभूत कर सके और केवल नयी होकर, पास से बेलबाटम पहने, ऊँची एँड़ी के जूते से सड़क कुचलती न निकल जाय।' वह कविता को पेड़ के भीतर से त्वचा खोलकर निकल आये फूल के समान मानते हैं, जो अपने धरती से रंग-रूप और गंध लेकर दूसरों को अपनी ओर खींच लेता है और मन में महकता रहता है। मैं इसीलिए अपने दोस्त रामविलास को स्वयं भी बहुत कम ही अपनी कविताएँ सुनाता रहा हूँ। मैं जानता था कि उनको मेरी कविताएँ बहुत अच्छी न लगेंगी। शायद दो-चार बार ही ऐसा हुआ है कि जब उन्होंने मेरी कविता पढ़कर उसकी तारीफ मुझे लिखकर भेजी है और मैं प्रसन्न भी हुआ हूँ। मेरे सामने उन्होंने मेरी कविताओं के विषय में शायद ही कभी कुछ कहा हो। 6 जुलाई सन् 70 के धर्मयुग के अंक में छपे अपने लम्बे लेख में मेरी कविताओं के विषय में उन्होंने लिखा था कि मैं उतनी अच्छी कविताएँ नहीं लिखता। यह मेरे लिये कोई नयी बात नहीं थी। मैं इसके पहले से ही समझता था। उनके ऐसा लिखने से मुझे कोई मानसिक कष्ट कदापि नहीं हुआ। मैं निरन्तर अब तक यही प्रयास करता हूँ कि कविता लिखूँ तो अच्छी लिखूँ। कभी-कभी अच्छी बन पाती है तो खुशी होती है। यह मेरे मित्र के मत का ही परिणाम है कि मैं शिल्प से अपने कथ्य को सँवारने लगा और सत्य की पकड़ में असत्य को दुतकारने लगा।

अब आज में इस लेख के लिखते समय यह महसूस करता हूँ कि अगर निराला और रामविलास से इतना लगाव न हुआ होता तो शायद मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि को पाकर भी मैं काव्य के क्षेत्र में उस ओर उलटे बह गया होता, जिस ओर मेरे बाद के तमाम कवि बह गये और कविता को दूर-से-दूर छोड़ते चले गये। मैं भी अपने अहं में घुस जाता और अहं की निजी, निसंग अभिव्यक्ति करने लगता, हो सकता है कि 'क्षणवाद' के चक्कर में अपने अतीत और भविष्य से छूटकर किसी एक क्षण में दियासलाई की एक तीली की तरह जल उठता और बीड़ी के धुएँ की तरह कुछ नई निस्सार अनुभूति देता, हो सकता है कि कविता को कुर्सी-मेज बना देता, यानी 'ठोस कविता' बना देता। हो सकता है, कि कविता को अकविता बनाकर अपनी मौलिकता का स्वाँग प्रदर्शित करता।

अच्छा हुआ कि मैं बच गया और इसके लिये कृतज्ञ हूँ अपने प्यारे दोस्त रामविलास और महाकवि निराला का। यहीं पर यह भी कह दूँ कि अच्छी कविता की ललक और लालसा जो मुझमें जगी, वह भी रामविलास के मुँह से कई बार देश-विदेश की अच्छी-से-अच्छी कविताएँ घण्टों पहरों सुनते रहने के बाद जगी और मैं भी अच्छी कविता की पहचान और पकड़ कर सकने में सक्षम हुआ।

अन्त में अपनी वह कविता उद्धृत करता हूँ, जो मैंने दिनांक 19-3-68 को रामविलास के बाँदा आने पर लिखी थी–

न देखा था
मैंने
देवदार,
तुम
आए
और दिख गया मुझे
दृढ़ स्तम्भ पेड़
मेरी आँखों में खड़ा
अटूट आस्था से
हो गया
बड़ा
दिन
हो गया
इन्द्रियों के अन्दर,
सिन्धु
पा गया
सूर्य को
पानी के अस्तित्व में
मैं और कविता
जी भर बटोरते रहे
धूप का धन,
एक साथ

एक साथ जीने के लिये,
खुल कर बंद हो गयी
चिरौंट की लाल चोंच,
और तुम
आए और गए हो गये।

❐

दो भाषण

प्रगतिशील साहित्यकारों से[1] –

मान्य साहित्यकार बन्धुओं!

पिछले 27 वर्षों से देश का शासन काँग्रेस के हाथ में है। काँग्रेस में अधिकतर वही लोग हैं, जो देश के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक ढाँचे को थोड़े हेर-फेर के साथ, यानी बिना आमूल परिवर्तन किये, बरकरार रखना चाहते हैं, जिससे आदमी-आदमी की दूरी ज्यों-की-त्यों बनी रहे, जो जहाँ है वहाँ रहे, छोटे लोग अपनी छुटाई में निर्वाह करें, बड़े और सम्पन्न लोग अपनी बड़ाई और सम्पन्नता बढ़ाते रहें। यह राजकीय व्यवस्था पूँजीवादी लोकतंत्र की काँग्रेसी व्यवस्था है। वही पुरानी पुलिस है, वही शिक्षा-प्रणाली है, पूरा-का-पूरा शासनतंत्र वही है, दुनिया बदली है, समस्याएँ नई-नई उभरी हैं, उनके समाधान का तरीका वही पुराना तरीका है।

आज के युग में इसीलिए विसंगतियाँ पैदा हो गयी हैं, समस्याओं की भीड़ लग गयी है, वर्ग-भेद बढ़ गया है, उच्छृंखलता उभर आयी है, नैतिक पतन सीमा पार कर गया है। ठोस वस्तु-स्थितियों को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से देखा और समझा नहीं जाता। केवल अनैतिहासिक आदर्शवादी–भाववादी–दार्शनिक सरलीकरण के बल-बूते पर सबकुछ ठीक-ठाक करने का उपक्रम किया जाता है, इसके लिये नये-नये टूट-टूट जानेवाले समझौते किये जाते हैं। यही सबकुछ करते-करते शासन के सत्ताइस वर्ष बीत गये हैं। सन् सैंतालिस से सन् चौहत्तर तक जो कुछ हुआ, उससे देश का उद्धार न हुआ। ऐसी परिस्थिति में काँग्रेस का भी विघटन हुआ। एक सत्ताधारी काँग्रेस बनी, एक संगठन काँग्रेस बना। पहली शासन पर आरूढ़ हुई, दूसरी निष्कासित व्यक्तियों की विपक्षी काँग्रेस हुई। दोनों अलग-अलग सोचने विचारने लगीं, लेकिन दोनों ही आज की परिस्थितियों का सही आकलन न कर सकीं। आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली गयी। विदेशों से कर्ज लिया जाने लगा। वस्तुओं के दाम पहुँच से बाहर आसमान में चढ़ गये। आदेश और अध्यादेश जारी होने लगे। आन्दोलन-पर-आन्दोलन उठ खड़े हुये, दबाने के लिए दण्ड और दमन का सहारा लिया जाने लगा। संसद के भीतर और बाहर असंसदीय आचरणों की भरमार हो चली। केन्द्र और प्रान्त की सरकारें लोकतंत्र के नाम पर एक-दूसरे से टकराने लगीं। उनमें सीमा-विवाद के झगड़े हो चले, वे भी साधारण नागरिक

---

1. उत्तर प्रदेश साहित्यकार सम्मेलन, आगरा में अध्यक्षीय भाषण प्रगतिशील

की तरह कानून का सहारा लेने लगीं। आकर्षक खोखले नारे दिये जाने लगे, दिखाऊ वादे किये जाने लगे, दम-दिलासा दे-देकर समस्याओं को टाला जाने लगा। देश की जनता आश्वासन-ही-आश्वासन खाती रही। पंक्तिबद्ध होकर लोग वस्तुओं के लिए दिनोंदिन अपना समय और अपनी शक्ति देकर भी तरसते रहे। मर्ज बढ़ता ही गया, ला-इलाज रहा। विद्यार्थी असन्तुष्ट हुए। दफ्तरों में ऊपरी आमदनी की लेवा-देयी चालू हो गयी। दलों की अदला-बदली हुई, समय-समय पर मंत्री बदले, गवर्नर बदले, प्रान्त सरकारें भी बदलीं, लाठी-चार्ज हुए, मारकाट की महारत हासिल की गयी। स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों को ताम्रपत्र भेंट किये गये, पेंशनों का ऐलान किया गया। पुराने काँग्रेसियों को वफादारी के लिए गले लगाया गया कि वे पुराने डुगडुगी बजाते रहें। स्थिति खराब से ज्यादा खराब होती चली गई, कमाओ चाहे जितना तिस पर भी खर्च पूरा न पड़े। जीने के लिए उचित माँगों की लड़ाइयाँ लड़ी जाने लगीं। कल-कारखाने बने और चालू हुए, विकास हुआ और प्रकाश भी फैला लेकिन उत्पादन और वितरण की प्रणाली दुरुस्त न हुई। प्रकाश भी मन के भीतर का अंधकार विनष्ट न कर सका। जो गरीब थे वे और गरीब हो गये, जो अमीर थे वे और अमीर हो गये। मध्यमवर्ग के लोग तरह-तरह से हर तरफ से चूर-चूर हो गये, अपने से अजनबी और पराये हो गये। रुपए की साख और उसकी कीमत बाजार में घट गयी, मुद्रास्फीति बेकाबू हो गयी। जमाखोर और मुनाफाखोरों की बन आयी। सरकार के लम्बे हाथ छोटों को पकड़ने लगे, बड़ों तक वे नहीं पहुँच सके। इधर अब कुछ नामी स्मगलर्स पकड़ कर जेल भेजे गये हैं लेकिन बड़े व्यापारी और कल-कारखाने वाले अब भी मुक्त हैं, उनका वही पुराना काम चालू है। उच्चतम अदालत में भी सरकार और कुछ बड़े लोगों ने लड़ाइयाँ लड़ीं, जीत-हार हुयी, पर जनता का उद्धार न हुआ, बैंकों का राष्ट्रीयकरण असरदार न साबित हुआ। इसके अलावा, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ अच्छे काम हुए। बाँगला देश की लड़ाई लड़ी गयी, भारत ने उसका साथ दिया, वह मुक्त हुआ और दोनों देशों के बीच मित्रता और सहयोग का सम्बन्ध स्थापित हुआ। पाकिस्तान और भारत के बीच शिमला समझौता हुआ। समाजवादी देश रूस ने लगातार भारत को सहयोग दिया और दोनों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक समझौते हुए। रूस की अनुकम्पा से ही अमरीकी सातवें बेड़े को पलायन करना पड़ा। भारत ने आणविक विस्फोट किया—सामरिक उपयोग के लिए नहीं, बल्कि शांतिपूर्ण निर्माण के हित में। इस सबके बावजूद जनता जीवन्त न हो सकी। वह अकाल-पीड़ित हुई, बाढ़ से बे-घरबार हुई, लगातार वर्षों-वर्षों से शोषण से संत्रस्त-की-संत्रस्त है। औरतें अब भी अवहेलित और अपमानित हैं, हरिजन आये दिन प्रताड़ित होते हैं। जमीन के हकदार को जमीन नहीं मिलती, रोजगार का भूखा दर-दर भटकता-फिरता है, दवा-दारू और चिकित्सा पहले तो ठीक-ठीक मिल ही नहीं पाती और यदि मिली भी तो अच्छी नहीं मिल पाती। बूढ़े पेन्शन नहीं पाते। मुफ्त न्याय और शिक्षा का स्वप्न साकार नहीं हो सका। कथनी और करनी का विरोध बेहद बढ़ गया है। जो योजनाएँ पहले होनी चाहिए थीं वे पीछे छोड़ दी गयी हैं। योजनाओं को बनाते समय जन-जीवन की समग्रता और सुविधा को ध्यान में नहीं रखा

गया। तिकड़म और तरकीब से जनता का वोट घसीटा जाने लगा। सरकार और जनता के बीच की दूरी निरन्तर बढ़ती गयी। नेता अभिनेता बन गए और जनता दर्शक-दीर्घा में बैठी दु:खद-त्रासदी देखती रही। लोग टूटते-टूटते हर तरह से टूटते चले गए। लोग-बाग कामुक सिनेमा देखकर अपना मनोरंजन करने लगे, अश्लील किताबें हाथों-हाथ लुक-छिपकर बिकने-बिकाने लगीं। सभी लोग वैषम्य का जीवन, ताप-परिताप का जीवन, दम्भ-द्वेष का जीवन, दैन्य-दु:ख का जीवन, पतन का जीवन, रूढ़ियों और अंधविश्वासों का जीवन, दुराचार और व्यभिचार का जीवन, अन्याय का जीवन जीने के लिए मजबूर हो गए।

देश के ऐसे दारुण परिवेश को हम साहित्यकार भी भोगते हैं। हमारी आर्थिक स्थिति भी आम जनता की आर्थिक स्थिति की तरह निरीहता की होती है। हम साहित्यकार चूँकि अधिक संवेदनशील चेतना के प्राणी होते हैं, इसलिए हम आम जनता का संत्रास और अपना संत्रास सबसे अधिक महसूस करते हैं। नतीजा यह होता है कि हमें हरएक दु:ख-भार निरन्तर दाबे रहता है और हम उभरने का प्रयास करके भी, उभर नहीं पाते। अपने इस संकट से बचने के लिए हममें से कुछ साहित्यकार अन्यान्य संस्थानों और प्रतिष्ठानों से रोटी और रोजी कमाने के लिये जुट जाते हैं और निश्चय ही इनकी चेतना प्रतिष्ठानी व संस्थानी चेतना हो जाती है। ये लोग जनता के दिल और दिमाग की तड़प में असमर्थ हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि ये लोग जनजीवन के सीधे साक्षात्कार से वंचित हो जाते हैं तो गलत न होगा, तभी तो इनकी लेखनी यथार्थ की अभिव्यक्ति की लेखनी नहीं बन पाती। न इनके विचारों में गर्मी रहती है, न भावों में जीवन्तता। इनका कृतित्व औपचारिक कृतित्व मात्र हो जाता है, न उस कृतित्व में सघनता रहती है, न मर्माकुल सहृदयता। असमर्थ शासन के ये असमर्थ शब्द-शिकारी न यथार्थ-सत्य को देख पाते हैं, न उसकी चाल और चमक, न अपने साहित्य को गति और प्रकाश दे पाते हैं। इनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि ये जन-साहित्य देंगे। यही नहीं, ये तो साहित्य में उनसब साहित्यकारों के विरुद्ध भी खड़े हो जाते हैं जो सचमुच जनता से जुड़े हुए साहित्य की रचना करते हैं। नये लोग ही नहीं, कई पुराने साहित्यकार भी जनता का साथ छोड़कर सरकार और संस्थान से गहरे सम्बद्ध हो गए हैं। यह बड़ी दु:खद बात है, लेकिन है तो सही। इनका साहित्य सरकारी और संस्थानी सहानुभूति पानेवाली पत्र-पत्रिकाओं में सहज ही प्रकाशित हो जाया करता है, इस वजह से इनके साहित्य के माध्यम से जो चेतना देशवासियों की बनती है, वह चेतना सचमुच में जनवादी अथवा समाजवादी अथवा सच्ची मानवतावादी नहीं होती। परिणाम यह होता है कि साहित्यकारों की मण्डली विभाजित हो जाती है और विभाजन के फलस्वरूप कुछ साहित्यकार दूसरे साहित्यकारों के आमने-सामने खड़े होकर एक-दूसरे को विरोधी समझने लगते हैं। साहित्यकारों में सहयोग के बजाय असहयोग की भावना उत्पन्न हो जाती है। उधर जनवादी स्वतंत्र साहित्य-सृजन करने वाले साहित्यकार भी कई-कई खेमों ने बँट जाते हैं, उनके भी अपने-अपने छोटे-छोटे गुट बन जाते हैं, यदि वे भी

किसी राजनीतिक या किसी अन्य दल से सम्बद्ध हुए तो उस दल की प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करने लगते हैं और ऐसे साहित्यकारों के अस्तित्व में आ जाने से साहित्य का सृजन भी दलीय दुर्बलताओं से संकीर्ण और संकुचित हो जाता है और गलत समाधानों को व्यक्त करने लगता है। ये सजग चेतना के साहित्यकार तो होते ही हैं, इन साहित्यकारों की भी अपनी साहित्यिक पत्रिकाएँ निकलती हैं। इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से ये अपना एक पाठक तैयार कर लेते हैं। इनके अलावा भी तमाम ऐसे भी साहित्यकार हैं, जो इन सबसे अलग, अपना परम्परावादी साहित्य-सृजन करते रहते हैं। इनमें से कुछ शुद्ध साहित्य के पक्षधर हैं, कुछ यथास्थिति को व्यक्त करनेवाले साहित्यकार हैं। इनसब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि साहित्यकारों में एकता स्थापित नहीं हुई, उनका कोई एक मंच नहीं है, न ही उनकी कोई एक समझ है न ही उनकी कोई एक दिशा है, और न ही उनकी शक्ति है।

सन् छत्तीस में जब प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म हुआ था और जब प्रेमचन्द जी ने अपना भाषण दिया था, तब देश का परिवेश इतना विकृत नहीं हुआ था, जितना विकृत वह आज है, तब के परिवेश में भी साहित्यकारों में रुचि-वैचित्र्य था और उनके अपने-अपने सृजन की अपनी-अपनी शैलियाँ थीं, फिर भी तब के साहित्यकार कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी तरह से आपस में एक-दूसरे से अलग होकर भी, जुड़ जाया करते थे, अपना-अपना मत रखते हुये भी व्यक्तिगत रूप से, एक-दूसरे के दुश्मन नहीं बन जाते थे। छायावादी कवियों में कितनी नहीं विभिन्नता थी, एक-दूसरे के साहित्यिक दृष्टिकोण और मान्यताओं में, फिर भी वे एक-दूसरे के हृदय के निकट ही रहे। प्रगतिवादी साहित्यकार भी एक-दूसरे से सम्वाद की स्थिति में रहते हुये भी आक्रोश से उबलते हुये भी किसी-किसी समय मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण करते हुये भी अन्ततोगत्वा एक ही लक्ष्य और उद्देश्य से अपना-अपना सृजन करते हुये जनता की चेतना को भ्रम और भुलावे से उबारकर यथार्थ-सत्य का दर्पण दिखाते रहे। प्रयोगवादियों ने भी, मतैक्य न होते हुए भी 'तारसप्तक' निकालकर ऊपरी एकता दिखायी थी। नयी कवितावालों ने अपना साहित्यिक गुट सबसे अलग बनाया और एक दिन ऐसा भी आया कि इन्होंने साहित्य के क्षेत्र में वही रणनीति और कार्यनीति अपनाई जो राजनीति में अपनायी जाती है, इन लोगों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों के विरुद्ध नकारात्मक दृष्टिकोण व्यक्त किया। जो पहले की छोटी-मोटी दलबन्दियाँ थीं, वे इनकी दलबन्दी के आगे फीकी पड़ गयीं, जो पहले की आपसी कहा-सुनी थी, वह इनकी कहा-सुनी के आगे महत्त्वहीन हो गयी। नई कवितावालों ने भी अपनी पत्रिकाएँ और पुस्तकें निकालीं और उसके कर्त्ता-धर्त्ता और अगुवा हिन्दी के प्राध्यापक और विश्वविद्यालय के स्नातक हुये। इन विभिन्न वादों के समर्थक इनके आलोचक और समालोचक भी हुए। उन्होंने भी वही कुछ किया, जो उनके तथाकथित वाद से सम्बन्धित था और अब सन् चौहत्तर तक आते-आते देश की दुर्व्यवस्था की वजह से साहित्यकारों का यह बिखराव पूरी तरह से उभरकर सामने आ गया। ऐसा लगता है कि

जैसे साहित्यकार अब यह सोचता ही नहीं कि उसे साहित्य की अबाध निरन्तरता में विश्वास है और उसको उसी में विश्वास होना चाहिये। अब आज साहित्यकार अजनबी भी बन गया है, जनता में उसकी कृतियों की खपत नहीं है। जनता कामुक साहित्य के चक्कर में पड़कर दिग्भ्रमित हो रही है। राजनीति प्रमुख है, और साहित्य केवल पुस्तकालयों या विश्वविद्यालयों अथवा पाठ्य पुस्तकों में कैद हो गया है।

देखना यह है कि साहित्यकार, आज का साहित्यकार, आज के जन-जीवन में कैसे स्थापित हो। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्थापित तो वह तभी हो सकता है, जब जनता उसके कृतित्व को अपनाने लगे। जनता भी उसके कृतित्व को अपनाएगी जब वह जनता की समझ में आनेवाला होगा। जनता की समझ में वह तभी आ सकता है, जब वह जनता के जीवन की अभिव्यंजना करे। जनता का आज का जीवन उसके पहले के जीवन से नितान्त भिन्न है। इसलिए साहित्यकार के कृतित्व की अब वह अभिव्यंजना-प्रणाली आज कारगर नहीं हो सकती, भले ही कोई उसी प्रणाली में लिखता रहे। सन् '36 से अबतक बराबर हम साहित्यकार कृतित्व के आयाम बदलते रहे हैं और जो कुछ उससे अभिव्यंजित करते रहे हैं, वह सब सामने आ चुका है। हम देख चुके हैं कि जनता ने उससब अभिव्यंजित कृतित्व का कुछ ही अंश अपनाया है और उसका बहुत अंश अस्वीकृत रहा है। इसके कहने से मेरा यह मतलब नहीं है कि उस अस्वीकृत बहुलांश में से भी, साहित्यिक दृष्टि से, कोई थोड़ी-बहुत उपलब्धि नहीं हुई, लेकिन वह साहित्यिक उपलब्धि जो हुई वह मूलत: आधुनिकीकरण की ओर हुई, जिससे बौद्धिक चेतना का ही प्रतिबिम्बन मुख्यत: हुआ है। इस प्रतिबिम्बन की वजह से बाहरी यानी विदेशी बौद्धिक चेतना के हाल के उद्घाटित तत्त्व अपने यहाँ की बौद्धिक चेतना के तत्त्व बनाये गये और इससब का परिणाम यह है कि हम साहित्यकारों के कृतित्व में वैयक्तिक निजी मनोगत चेतना के बिम्ब ही प्रकट हुए हैं तथा शिल्प और शैली का स्वरूप भी तदनुसार हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम तो चले थे अपनी साहित्यिक-यात्रा पर इसलिए कि हम जनता के साहित्कार होंगे, लेकिन ऐसा न होकर हम हो गये केवल अपने ही अकेले के साहित्कार और जनता का और हमारा सम्पर्क कम-से-कम होता चला गया। इसे चाहे अपने देश के परिवेश की देन कहिये अथवा साहित्यकार की अपनी वैयक्तिक मजबूरियाँ, ऐसा हुआ इसमें कोई संदेह नहीं। प्रगतिवाद को नई कवितावालों ने मृत घोषित कर दिया, इसके विरोध में बहुत-कुछ लिखा गया, उसके अपने पत्र 'हंस' और 'नया साहित्य' बंद हो गये। प्रगतिवादियों की रचनाएँ भी हिन्दी की पत्रिकाओं में जान-बूझ कर न छापी जाने लगीं। उनके कृतित्व से जो, जनता तक पहुँचने का, उपक्रम शुरू हुआ था, वह रुक गया। वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम पर जो माहौल देश में बना, उसने साहित्य को भी बौद्धिक अजनबी इकाई बना दिया। प्रगतिवादी साहित्य जनता से प्रतिबद्ध साहित्य था। यह प्रतिबद्धता समूल नष्ट कर दी गयी या कि हो गयी, तभी तो यह आम शिकायत जोर-शोर से, अभी कुछ दिन पहले से चारों ओर से होने लगी कि समाज में ऐसे बौद्धिक अजनबी वैयक्तिक साहित्य

का कोई भी मूल्य नहीं है। इस शिकायत का असर साहित्यकारों पर पड़ा और वह फिर से विवश हुए कि जनता से जुड़ने का साहित्य लिखने की बात गम्भीरता से सोचने और विचारने लगे।

इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर फरवरी सन् '73 में बाँदा में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील हिन्दी साहित्यकार सम्मेलन' का आयोजन किया गया। इसमें सम्मिलित होने के लिए नये, पुराने, आधुनिक, अत्याधुनिक, साम्यवादी और गैरसाम्यवादी किन्तु अपने देश की जनता और उसकी आशा-आकांक्षाओं से प्रतिबद्ध साहित्यकारों को आमंत्रित किया गया। सम्मेलन में भी काफी विचार-विमर्श किया गया और सभी को एकसाथ रहकर साहित्य-सृजन करने के लिए सहमति प्राप्त की गयी और एक न्यूनतम कार्यक्रम सभी के द्वारा स्वीकार किया गया। लगभग एक सौ से ऊपर साहित्यकार आये थे और यह सम्मेलन अपने-आप में हिन्दी भाषी जनता के हित में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना गया। इसके बाद फिर भरतपुर में अगस्त '73 में वहाँ का प्रांतीय सम्मेलन आयोजित हुआ, बावजूद अन्तर्द्वन्द्व के यह भी सम्पन्न हुआ, इसे भी एक उपलब्धि कहा जायेगा। बिहार में प्रांतीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। लेकिन रेलों की हड़ताल के कारण से वह हुआ तो पर बाहर से लोग अधिक न पहुँच सके। अब आज आगरा ऐसी ऐतिहासिक नगरी में हमारा प्रांतीय सम्मेलन हो रहा है। यह भी हमसब के लिए बड़े गौरव की बात है। यह नगर भारतीय इतिहास का एक प्रमुख नगर है। यह संसार प्रसिद्ध है, यहाँ की राजनैतिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ राज्य और जनता दोनों से जुड़ी हुई हैं। यहाँ की भाषा दोनों प्रकार की है। इस नगर में हिन्दी और उर्दू के प्रसिद्ध यशस्वी गद्य और पद्य के साहित्यकार हुये हैं। नजीर अकबराबादी सचमुच में जनता के जीवन के समर्थ कवि और गायक हुए हैं। तानसेन का संगीत भी यहाँ की विशेषता रही है। यहाँ विश्वविद्यालय है और कई महाविद्यालय हैं, यहीं श्री के०एम० मुंशी का स्थापित किया हुआ हिन्दी संस्थान है। दयालबाग ऐसी संस्था कौन नहीं जानता। आगरा मेडिकल कालेज अपनी सेवाओं के लिए जनप्रिय है ही। यमुना की नीली धारा इसे ब्रजवासियों से जोड़े हुए है। सूरदास की रसमयी वाणी और ब्रज की बोली अब भी यहाँ आदर और सत्कार पाती है। कालिन्दीकूल पर अतीत से खड़ा प्रेम का अमर प्रतीक ताजमहल संसार की आँखों को आश्चर्यचकित करता रहता है। उद्भट विद्वानों और कलाकारों और साहित्यकारों और संगीतज्ञों की इस प्रसिद्ध नगरी में यह सम्मेलन अवश्य ही साहित्य की निरन्तरता को अबाध रूप से बनाये रखने में निश्चय ही सक्षम होगा—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है और जो हम लोगों को साग्रह बुलाकर एकत्रित कर सके हैं, वे हम सबके धन्यवाद के पात्र हैं और मेरे अतिरिक्त सभी साहित्यकार जो यहाँ सम्मिलित हुए हैं वे हिन्दी भाषी जनता के धन्यवाद के पात्र हैं।

तो! अब इस सम्मेलन की महत्ता इसी में है कि यह प्रगतिशील साहित्यकारों का सम्मेलन, उनमें कायम हुई एकता को दृढ़-से दृढ़तर बनाने में सक्षम हो और इसके लिए पूरे मनोयोग से सभी साहित्यिक बन्धु सचेष्ट और सक्रिय हों।

इस एकता को बनाये रखने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि प्रगतिशील साहित्यकारों के कृतित्व के प्रकाशन की एक रजिस्टर्ड संस्था स्थापित की जाय। इस उत्तरदायित्व को सभी को लेना पड़ेगा, इसके लिए सभी को आर्थिक सहयोग देना पड़ेगा, इसलिए इसकी अवतारणा के लिए ठोस तरीके से सही-सही प्रयत्न किए जाने चाहिए। यह संस्था एक केन्द्रीय साहित्यिक पत्रिका भी प्रकाशित करे, इस पत्रिका के माध्यम से वह प्रगतिशील साहित्य जनता तक पहुँचाए, अनेकानेक साहित्यिक विषयों को लेकर वैज्ञानिक और समाजवादी दृष्टकोण से बहसें शुरू करे, यही पत्रिकाएँ परिचर्चाएँ आयोजित करें। बिना ऐसा किए प्रगतिशील साहित्य की परम्परा आगे नहीं बढ़ सकती। छोटी पत्रिकाओं के कुछ प्रयत्न सही दिशा में होते हुए भी, जड़ता की इस स्थिति को तोड़ नहीं सके। यह संस्था एक सहकारी संस्था हो, इस बात पर बड़े मनोयोग से विचार होना चाहिए।

सहकारी प्रकाशन-केन्द्र के बिना न तो प्रगतिशील लेखक अपनी अभिव्यक्ति का कोई मंच ही प्राप्त कर सकते हैं और न उन्हें प्रकाशकीय शोषण से ही मुक्ति मिल सकती है। केवल 'कापी राइट ऐक्ट' में परिवर्तन का संघर्ष नितान्त अपर्याप्त है और ऐसे संघर्ष से शोषण की मूल समस्या हल नहीं हो सकती। यह ऐक्ट न जनवादी है, न समाजवादी, यह तो पूरा-का-पूरा व्यवस्थावादी है, यह जितनी जल्दी खत्म कर दिया जाये उतना अच्छा है।

भाषा को लेकर आज साहित्यकारों में बड़ा उलझाव फैला हुआ है, क्या साहित्यकार की भाषा जनता की जीवन्त भाषा से अलग कोई वैयक्तिक भाषा होती है? क्या साहित्य की उपलब्धि के नाम पर ऐसी भाषा का प्रयोग होना चाहिए, जो जन-चेतना के लिए संप्रेषणीय न हो? क्या साहित्यकार की भाषा में विदेशी भाषाओं की जड़ता को स्वीकार किया जाना चाहिए अथवा अपने यहाँ की जनबोलियों से अपनी भाषा को समर्थ और सक्षम बनाना चाहिए? क्या साहित्य का मूल उद्देश्य मात्र भाषा का प्रदर्शन है अथवा भाषा साहित्य की अभिव्यक्ति का मात्र माध्यम है? क्या भाषा की लय और काव्य की लय में कोई अन्तर है कि यह कहा जाय भाव की लय ही प्रमुख है और उसी में लिखा गया काव्य श्रेष्ठ काव्य है? भाषा कब और कैसे कथ्य को स्थायी और मूल्यवान् साहित्य बना देती है? ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनपर बड़ी गम्भीरता और सूक्ष्मता के साथ विचार करना होगा—यह काम भी हम प्रगतिशीलों को करना है, ऐसी संस्था और पत्रिका के माध्यम से।

जहाँतक जनता से हम साहित्यकारों के जुड़ने का सवाल है, वह भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल है, इसपर भी धैर्य और विवेक से विचार करना है। जनता से जुड़ने का मतलब है जनता की आवाज बुलंद करना, जनता का साहित्यकार होने का मतलब है, जीवन का साहित्यकार होना। अब आज का जीवन राजनीति का जीवन हो गया है, इसलिए हम लोगों को साहित्य और राजनीति के पारस्परिक संबंधों पर भी सोचना विचारना आवश्यक हो गया है। न हरएक साहित्यकार राजनीतिक कार्यकर्त्ता हो सकता

है और न हर एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता साहित्यकार हो सकता है। हरएक की अपनी-अपनी सीमाएँ और विवशताएँ हैं, इसलिए हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि प्रत्येक साहित्यकार, उतना ही अच्छा राजनीतिक कार्यकर्त्ता हो, जितना अच्छा असाहित्यकार राजनीतिक कार्यकर्त्ता हो सकता है। साहित्य-सृजन साहित्यकार की चेतना को इतना अवकाश दे ही नहीं सकता कि वह उसे दूसरी ओर खपा दे, लेकिन इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि साहित्यकार अपने नागरिक दायित्व को निबाहने के लिए जनता के साथ मिल-जुलकर कोई भी काम न करे। जनता ही उसके साहित्य का स्रोत होती है, उस स्रोत तक तो जाना ही पड़ेगा, ऐसी दशा में विवेक से काम लेना साहित्यकार के लिए अनिवार्य हो जाता है। वह साहित्य-सृजन और नागरिक दायित्व के कामों के बीच के द्वन्द्व को मिटाये और निरन्तर जनता का साहित्य लिखे और राजनीति में ही लोप होकर अपने साहित्य-सृजन को समाप्त न कर दे। निश्चय ही आज के परिवेश में प्रगतिशील साहित्यकार यदि सत्य और यथार्थ को चित्रित करेगा और जनता की आवाज को धार देकर व्यक्त करेगा तो वह राजनीति के शासनतंत्र से टकराएगा और हो सकता है कि वह भी उसी यातना को भोगे, जो टकरा रहे लोग भोगते हैं। साहित्यकारों में भी ऐसे कुछ हैं। वे जनता के बहुत-बहुत बधाई के पात्र हैं, लेकिन इस प्रकार की अपेक्षा सभी साहित्यकारों से नहीं की जा सकती। जो इस टकराव की स्थिति को सहन नहीं कर सकते, उन्हें कोई कायर कहे तो यह गलत होगा। होना चाहिए कि उन्हें भी, और उनके कृतित्व को भी अपने साहित्य में, अपने बीच लिए रहना चाहिए। साहित्यकारों की बिरादरी शूरमाओं और हथियार-बन्दों की बिरादरी नहीं है, यह बिरादरी समझदारों की समाजवादी बिरादरी है। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम किसी के लेखन पर कोई प्रतिबन्ध लगायें। हम उसे केवल समाजवादी विकास की ओर चलते रहने के लिए प्रेरित और उद्‌बोधित कर सकते हैं। हम उसे आदेशित करके आगे नहीं बढ़ा सकते। यदि ऐसा न हुआ तो साहित्यकार हमसे छँट जायगा, समाजवादी चेतना के विकास-क्रम से टूटकर अलग हो जायगा और हो सकता है कि ऐसा होने पर अहं की गुफा में घुस जाय और केवल अपना ही अजनबी साहित्य-सृजन करने लगे अथवा किसी संस्थान में जुड़कर केवल संस्थान की ठेकेदारी करने लगे और देश में प्रतिक्रियावाद की जड़ें जमाने लगे। यही वह खतरे हैं जिनको मैंने यहाँ सूक्ष्म में इंगित किया। इन खतरों से हमें आगाह रहना चाहिए। ऐसा न हो कि हम आवेश में आकर साहित्य-सृजन को पीछे छोड़ दें और राजनीति के अलमबरदार बन जाएँ। साहित्य में राजनीति का प्रतिबिम्बन हो और होना भी चाहिए, परन्तु साहित्य-राजनीति नहीं हो सकता। साहित्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह मानवीय चेतना को परिष्कृत करता चले। कथनी और करनी का जो योग राजनीति में होना चाहिए, वह आमतौर से सम्भवतः साहित्य में कम होता है। यह अत्यन्त विवाद का विषय है और देश की ऐतिहासिक परिस्थितियों के संदर्भ में ही इसपर बुद्धिमत्ता से विचार किया जाना चाहिए। मेरा आग्रह विशेष रूप से सभी आए हुए साहित्यकार बन्धुओं से है कि वे इसपर विचार-विमर्श करें और इसके बाद भी इस विवाद को अपने ढंग से सुलझाने की बात हरएक साहित्यकार पर छोड़ दें।

आज जो कविता, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में सृजनात्मक उथल-पुथल और हेर-फेर बहुत मात्रा में हो रही है, वह संभवत: इसीलिए हो रही है कि हम साहित्यकार जनता से कटे-कटे हैं और हम अपनी जनता को नहीं, अपने को और विशिष्टताओं को केन्द्र मानते हैं और इसीलिए जो कुछ लिखते हैं वह केवल अपने लिए लिखते हैं। मैं यह नहीं कहता कि सभी साहित्यकार ऐसा करते हैं फिर भी बहुलता वैसे ही लिखने वालों की है, जो केवल अपने रक्त-मांस का जीवन, अपने दिमाग का जीवन और अपने भाव-बोध का जीवन, मात्र अपने लिए जीते हैं। यह अशुभ लक्षण है। हम प्रगतिशील साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य है कि हम ऐसी दुर्बलता से उबरें और अपनी जनता के जीवन से जुड़कर अपने साहित्य-सृजन को मानवीय गुणों से पूरी तरह परिपक्व करें, ताकि वह सबके लिए सुलभ सम्प्रेषणीय हो और हमारे साहित्य की निरंतरता बनी रहे।

आज भी आत्मपरकता और वस्तुपरकता का द्वन्द्व बुरी तरह से भरपूर चालू है, जो प्रगतिशील नहीं हैं, वह साहित्यकार तो उस द्वन्द्व के इस हदतक शिकार हैं कि उनके कृतित्व से वस्तुपरकता तो कतई लोप हो गयी है और जिसे वह वस्तुपरकता की संज्ञा देते हैं वह वस्तुजगत् की वस्तुपरकता होती ही नहीं। नतीजा यह हुआ कि ऐसे कृतित्व से विकृतियों का पुंज लग गया है और मानवीय चेतना अपने सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक दायित्व से सर्वथा अनभिज्ञ रह गयी है। अब यहसब नहीं होने का। दिशा और दृष्टि बदलनी होगी। समाजवादी चेतना को उबारना और उसको निरूपित करना पड़ेगा, तभी साहित्य जनता का साहित्य होगा अन्यथा नहीं।

इसके अलावा और भी कई अशुभ बातें हैं, जिनसे साहित्य का विघटन हुआ है। बौद्धिकता इस हद तक हावी हो गई है कि साहित्य में वही-वही भर गयी है और उसी के उद्‌घाटन का नाम साहित्य हो गया है। ऐसी बौद्धिकता, कोरी बौद्धिकता किसी अर्थ की नहीं होती। वह स्वभाव से देश और समाज के परिवेश का संज्ञान नहीं कराती। वह आदमी को आदमी से नहीं जोड़ती। वह प्रचलित विसंगतियों को तोड़ने के लिए आदमी को प्रतिबद्ध नहीं करती। वह जीवन को इसकी समग्रता में नहीं देखती। वह अपने ही सृजनकर्त्ता को लील जाती है। सृजनकर्त्ता न दीन का रहता है, न दुनिया का। इसके विपरीत समाजवादी बौद्धिकता घटनाओं का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन करती है, घटनाओं की जड़ों में छिपी मूल बात को पकड़ती है, उसको उभारती है और फिर आदमी को उससे निबटने के लिए उसे बदलने के लिए कटिबद्ध करती है। यह काम भी प्रगतिशीलों को करना है। देर बहुत हो गयी। अब, नये सिरे से विवेक और आस्था से, साहित्य के सृजन को सही दिशा देना आवश्यक है।

तमाशा तो यह है कि जिस प्रकृति में हम रहते हैं, जो हमारे लिए माँ है, जो हमारे लिए सब-कुछ सुलभ करती है और जिसमें हम जीते और जिसकी बदौलत हम कर्मठ व्यक्ति हैं, उसी को हमने अपने आज के साहित्य से निष्कासित कर दिया है और हम हो गये हैं प्रकृतिविहीन निस्संग आदमी। प्रकृति से जुड़ना उसकी मुद्राओं को चित्रित करना

और उसको सँवारना हम भूल गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि हमसे साहित्य-सृजन का सबसे महत्त्वपूर्ण और व्यापक क्षेत्र निकल गया है। यह हितकारी नहीं विनाशकारी है। हम प्रगतिवादियों को इस ओर विशेष ध्यान देना है और प्रकृति का साहित्य सृजन करना है।

साहित्य में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अब तो उपलब्ध ही नहीं होती। राजनीति और अहंवाद ने बुद्धिवाद से लैश हो कर साहित्य से सौन्दर्य को निकाल ही दिया है। साहित्य में सौन्दर्य जैसा कोई तत्त्व ही नहीं रह गया। यह कहना कि सौन्दर्य कलाबाजी है, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध अब आज के युग में नहीं है, बेहद गलत है। ऐसा कहना अवैज्ञानिक और अमानवीय है। सौन्दर्य न हो तो सुन्दर समाज की कल्पना तक नहीं की जा सकती। सौन्दर्य न हो तो मानवीय गुणों को देखने की क्षमता ही विनष्ट हो जायेगी। सौन्दर्य कोई बाहरी अजूबा तत्त्व नहीं है, प्रकृति और जीवन से उद्‌भूत हुआ करता है सौन्दर्य। श्रम से सौन्दर्य का स्वरूप उजागर होता है। सौन्दर्य का हनन प्रकृति और जीवन का हनन ही तो है। इस तत्त्व को नयी जीवन-दृष्टि से समाजवादी दृष्टि से चारों ओर देखकर पकड़ना चाहिये और अपने कृतित्व में इसे उतारना चाहिए। भाषा इसी तत्त्व के अनेकानेक पहलुओं को पाकर मनुष्य की सुन्दर और समर्थ भाषा बनती है। साहित्य का सृजन कभी भी इस तत्त्व से रहित सम्भव नहीं हो सकता। यह तत्त्व भी तो युग और युग-सत्य के साथ रूप बदलता और परम्परा से प्रगति की ओर प्रयाण करता है। जैसे-जैसे मनुष्य बदलता है, वैसे-वैसे यह भी बदलता है। पर यह कभी भी मनुष्य से छूटता नहीं। सौन्दर्य में मनुष्य की चेतना का सृजनात्मक परिवर्तन होता है और वह किसी एक की न होकर सर्व की अपनी चेतना बन जाती है। सौन्दर्यचेता साहित्यकार मानवीय चेतना को देश और काल के असंख्य रूपों से समृद्ध करता है और तभी तो भावों और विचारों को स्थायी स्थायित्व प्राप्त होता है। हम प्रगतिशीलों को साहित्य में इस अमूल्य तत्त्व को फिर से प्रतिष्ठित करना है। बिना इसे प्रतिष्ठित किये हम सृजन से समृद्ध नहीं हो सकते।

अंत में आपसब के प्रति आभार प्रकट करता हूँ और आप सबसे यह आशा करता हूँ कि आप लोग इस सम्मेलन को सफल बनाने में अंतिम क्षण तक सक्रिय सहयोग देते रहेंगे।

❐

बाँदा-सम्मेलन[1] : कुछ सवाल-कुछ सुझाव

इस बार बाँदा में हो रहे प्रगतिशील हिन्दी साहित्यकार सम्मेलन में सम्मिलित होनेवाले लेखकों से दलगत राजनीति से ऊपर उठकर रचनात्मक स्तर पर पारस्परिक विचार करने की बात कही गई है। इस कहने के पीछे न किसी का राजनीतिक निर्देश है, न किसी का कोई आदेश है। इस संबंध में किसी को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए।

इस सम्मेलन का आयोजन इसलिए किया गया है कि हिन्दी के अलग पड़े लेखक एक जगह मिलकर—एक-दूसरे से जुड़कर—सोचें और समझें कि उनकी और उनके साहित्य की समस्याएँ क्या हैं और उन समस्याओं को कैसे हल किया जा सकता है? यह काम बड़े उत्तरदायित्व का है। यह उत्तरदायित्व कोई एक व्यक्ति अपने ऊपर नहीं ले सकता है। व्यक्तिवादी तरीके से कोई समस्या हल नहीं की जा सकती। यदि हल भी की गयी तो वह हल सबको मान्य नहीं हो सकता। इसीलिए निजी और साहित्यिक सुलझाव के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया है। इसी में इसकी सार्थकता है।

यह सोचना कि, प्रत्येक लेखक अपने-आपमें अपनी एक विशिष्ट इकाई होता है, तभी वह अपनी मौलिकता के बलपर अपनी साहित्यिक रचना करता है और ऐसा करने में वह किसी दूसरे या तीसरे या अन्य लेखक से सम्बद्ध होने की कोई जरूरत नहीं महसूस करता है, इसलिए उसे अकेले ही रहकर अपनी और अपनी साहित्यिक समस्याओं का हल खोजना चाहिए और किसी सम्मेलन में उसे नहीं शामिल होना चाहिए, किसी भी प्रकार से सही सोचना नहीं कहा जा सकता। अपनी मौलिकता—अपनी विशिष्टता—अपनी रचनाधर्मिता—अपनी जीवन-दृष्टि रखते हुए भी वह दूसरों से मिल सकता है। इस मिलने से—दूसरों की मौलिकता—विशिष्टता—रचनाधर्मिता—जीवन-दृष्टि से अवगत होने से उसे अपनी मौलिकता—विशिष्टता—रचनाधार्मिता—जीवन-दृष्टि को उसके परिप्रेक्ष्य में अधिक अच्छे ढंग से समझने और गुनने का अवसर मिलता है और ऐसे अवसर का लाभ उठाकर ही वह अपने और अपने साहित्य को नयी दिशा और दृष्टि दे सकता है। सम्मेलन में शामिल होकर यह काम बड़े अच्छे ढंग से हो सकता है।

सम्मेलन भीड़ होकर भी—मेला होकर भी—न भीड़ है, न जमाव है, न मेला है। भीड़ को परिचालित करता है पूर्व निर्धारित एक सामूहिक कार्यक्रम। जमाव को जुहाता है पूर्व घोषित एक सार्वजनिक संकट या समारोह। मेले को लगाया जाता है निजी वस्तुओं

---

1. उत्तर प्रदेश प्रगतिशील साहित्यकार सम्मेलन, आगरा में अध्यक्षीय भाषण।

के क्रय-विक्रय के लिए और भेंट-मुलाकात के लिए, मन बहलाव के लिए। सम्मेलन– ऐसे साहित्यिक सम्मेलन विचारों के आदान-प्रदान के लिए आयोजित होते हैं और ऐसे आयोजन से एक न्यूनतम कार्यक्रम की सर्वग्राह्य रूपरेखा तैयार होती है। ऐसे सम्मेलन को दिशा देती है तमाम आये हुए साहित्यकारों की अपनी-अपनी दृष्टि। सम्मेलन में साहित्यकार अपनी-अपनी चेतना का परित्याग नहीं करते, अपितु वह उसे संकुचित से विस्तृत, संकीर्ण से सार्वजनीन बनाते हैं। सम्मेलन में सौदेबाजी नहीं होती। शामिल होनेवाला लेखक वहाँ बिकता नहीं। वहाँ उसकी चेतना दूसरों की चेतना से उजागर होती है। वहाँ उसकी चेतना अधिक से और अधिक अवगत होती है। वहाँ उसे नये क्षितिज और अछूते छोर दिखते हैं। इसी प्रकार ऐसे सम्मेलन से निकलते हैं सर्वसम्मतीय विचार। इसी दृष्टि से यह सम्मेलन बुलाया गया है और इसी दृष्टि से यह सम्मेलन सम्पन्न किया जायेगा। इसके अतिरिक्त और कोई कारण इस सम्मेलन के बुलाने और करने का नहीं है।

सम्मेलन बुलाने वाले लेखक भी इसी दृष्टि से सम्मेलन में सहयोग देने के लिए और उसे सफल बनाने के लिए कृतसंकल्प हैं कि वह भी अपनी विशिष्टता को दूसरों की विशिष्टता के परिप्रेक्ष्य में पहले से अधिक व्यापक और अधिक सम्प्रेषणीय बना सकें। ताकि वह और आये हुए दूसरे लेखक सहयोगी बनकर देश के जन-जीवन की प्रगति में सहायक हो सकें। उनका उद्देश्य न किसी दूसरे को अपने से आरोपित करने का है, न किसी दूसरे से अपने को आरोपित कराने का है। उन्हें अपने और दूसरों के विवेक पर पूरी आस्था है। उनकी पक्षधरता या प्रतिबद्धता अराजक स्वभाव की नहीं है। वह सृजनता में विश्वास रखते हैं, अराजकता में नहीं। उनकी दृष्टि में समस्त साहित्य सृजनता से सम्भव हुआ है, अराजकता से नहीं। इसके अतिरिक्त साहित्यिक अराजकता भी यदि हुई है तो साहित्यिक रूढ़ियों और रीतियों के तोड़ने और साहित्य को नवोन्मेष से जोड़ने के लिए हुई है। साहित्यिक अराजकता साहित्य को अधिक संप्रेषणीय बनाये, तभी उसकी सार्थकता होती है। जब साहित्यिक अराजकता संप्रेषणीयता के लिए न होकर मात्र वैयक्तिक अहंवाद का रूप लेकर मन के विघटन के चित्रण में लीन हो जाती है और भाषा का मूर्तविधान त्याग असंगत शब्द-संयोजन करने लगती है, तब वह निरर्थक हो जाती है। सम्मेलन बुलानेवाले ऐसी किसी साहित्यिक अराजकता के समर्थक नहीं हैं। उन्हें ऐसी अराजकता से कुछ लेना-देना नहीं है। वह ऐसी अराजकता के खुले तौर से विरोधी हैं।

सम्मेलन बुलानेवाले यह भी बखूबी जानते हैं कि जीवन के क्षेत्र में जिसे क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है, वह वहाँ की अराजकता से भिन्न होती है। क्रान्ति राज्य के आमूल परिवर्तन का संगठित वैज्ञानिक कार्यक्रम है, जिसे जनता रणनीति और कार्यनीति से नये जन-जीवन के लिए सम्पन्न करती है, ताकि सबको समान अवसर सुलभ हो सके और व्यक्ति-व्यक्ति का शोषण और दोहन समाप्त हो सके। इसके विपरीत जीवन के क्षेत्र में जिसे अराजकता की संज्ञा दी जाती है वह वहाँ की क्रांति से भिन्न होती है। अराजकता

में भी राज्य के आमूल परिवर्तन का भाव रहता है या हो सकता है। लेकिन वह न तो वैज्ञानिक कार्यक्रम पर आधारित होती है, न उसके पीछे विवेकशील रणनीति और कार्यनीति होती है। वह तो कुछेक साहसिक व्यक्तियों की दुस्साहसिकता का परिणाम होती है। वह असंतोष से उपजी असंतोष में समाप्त हो जाती है। वह उल्कापात है, जिससे भविष्य का प्रबुद्ध निर्माण संभव नहीं होता। उन्हें जीवन के क्षेत्र की अराजकता में विश्वास नहीं है। वह ऐसी अराजकता को भी साहित्य के सृजन के लिए प्राणघाती समझते हैं।

अब रही राजनीति की बात। हिन्दी के हम लेखक उसमें या तो कहीं हैं ही नहीं और अगर कहीं एकाध जन हैं भी तो सबसे पीछे हैं, जहाँ होना न होना कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। इसलिए हिन्दी के हम लेखक न तो राजनीति को बदल सकते हैं, न राजनीति से देश को बदलनेवालों से बदला ले सकते हैं और न ही उन्हें बदल सकते हैं। राजनीति के तंत्र को वही संचालित करते हैं, जो लोक-जीवन को दही की तरह मथते हैं और समस्याओं से रात-दिन जूझते हैं और जनता को जीते रहने का थोड़ा-बहुत बल और विश्वास देते हैं। बेचारा शब्दों का सारथी साहित्यकार-प्रगतिशील ही क्यों न हो—वामपंथी ही क्यों न हो—राजनीति के तंत्र का नियामक नहीं हो सकता। न वह उसका विध्वंसक हो सकता है। वह तो कभी-कभी विरोध का स्वर ही मुखर कर सकता है। तो ऐसी सूरत में राजनीतिज्ञ उसका मुँह बन्द कर देते हैं, कभी कानून द्वारा, कभी दंड-दमन द्वारा। बेचारा पिस-पिसाकर चूर हो जाता है। अन्त यही होता है। लेकिन साहित्यकारों में भी कई ऐसे सयाने भी होते हैं जो गुलगपाड़ा करके राजनीतिज्ञों से कुछ-न-कुछ सहूलियतें पा लेते हैं और थोड़े दिन चुप रहकर फिर उफन पड़ते हैं और फिर सुविधाएँ पा लेते हैं। बहरहाल शब्दों का शिकारी राजनीति का शिकार बन जाता है। न वह रचनाकर पाता है—न जो रचता है उसे निखार पाता है। परिणाम स्पष्ट है कि राजनीति उसे दीमक की तरह चटकर जाती है। इसलिए साहित्यकार राजनीति में घुसकर अभी तो कम-से-कम पनप नहीं सकता—न ही रचनाधर्मिता निबाह सकता है। आगे की राम जाने। हाँ, अगर उसे थोड़ी-बहुत मामूली सुविधाएँ चाहिए हों तो वह जरूर राजनीति के बाहरी दायरे से यानी प्रचार-चक्र से जुड़ जाये और उन्हें पा ले। इसके अलावा उसे कुछ भी हासिल नहीं हो सकता। राजनीति—लेखक के वश की बात नहीं है। फिर भी लगभग सभी लेखक यह तो कर ही सकते हैं कि जीवन में छायी राजनीति से जो दुर्दशा हुयी है, उसका अपने साहित्य में मार्मिक अंकन करें—निरूपण करें। यही प्रत्येक साहित्यकार का उत्तरदायित्व है, जिसे उसे लगातार जनहित में निबाहते रहना चाहिए। यही उसकी कला को व्यापक और संप्रेषणीय बना सकता है। यही उसे जनप्रिय बना सकता है। यही करने में उसकी रचनाधर्मिता अक्षुण्ण रह सकती है। यही उसकी मौलिकता देश की वाणी बनकर कल्याणी बन सकती है। यही उसका कथ्य सत्य की अभिव्यक्ति हो सकता है। यही उसका शिल्प-सौन्दर्य और सत्य को प्रतिष्ठित और अमर बना सकता है। यही नहीं, इसी प्रकार से तो सभ्यता और संस्कृति के प्रारूप

अच्छे-से-अच्छे बनाये जा सकते हैं। इसलिए फिलहाल साहित्यकार को अपने साहित्य के सृजन में राजनीति के प्रभावों से उद्‌वेलित और आवेशित होना चाहिए और जीवन की ओर उन्मुख रहकर जीवन में जीते-जीते जीवन की बात को जीवन के स्वर में कहना चाहिए। यही सच्ची प्रगतिशीलता है। यही सच्ची और सार्थक साहित्यिकता है। यही मौलिकता की साधना और सिद्धि है। इसी में हमसब लेखक सहमत हो सकते हैं।

जहाँतक शासन या सरकार से सहयोग या असहयोग करने की बात है, उसपर भी हम साहित्यकारों को विवेक से काम लेना चाहिए। अब कोई विदेशी शासन या सरकार (या अधिनायकवादी) नहीं है कि हम उसका आँख मूँदकर विरोध करने के लिए कृत संकल्प हों। अब सरकार ने समाजवाद की ओर अपना मुँह कर लिया है, भले ही अब भी उसकी कार्य-प्रणाली समाजवाद के अनुरूप न हुई हो। नई काँग्रेस ने पुरानी काँग्रेस से अलग हो कर—उसे विघटित करके—जनता में समाजवाद लाने का नारा दिया है और इसके लिए उसने कुछ कार्यक्रम भी बनाये और अपनाये हैं। उस कार्यक्रम के करने में—उसे लागू करने में—तरह-तरह की दिक्कतें आड़े आ रही हैं। नई काँग्रेस की प्रगति उतनी तेज नहीं हो रही, जितनी उससे आशा की जाती है। इसलिए नई काँग्रेस के प्रति भी जनता में वह उत्साह जागृत नहीं हो पा रहा है, जो उत्साह जागृत होना चाहिए था। ऐसी दशा में साहित्यकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सरकार के द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रमों को जनता के जीवन के परिप्रेक्ष्य में जाँचे और परखे और एक नागरिक होने के नाते जनता की ओर से उसके उन्हीं कामों का प्रतिबिम्बन अपने साहित्य में करे जो जनता के हित में अच्छी तरह से सम्पादित हो रहे हैं और जिनके परिणाम भी शुभ होते दिखायी देते हैं। इसके विपरीत और जितने असमाजवादी कार्यक्रम अब भी सरकार की ओर से यहाँ चालू किये जाते हैं और जिनसे आमआदमी को लाभ पहुँचने के बजाय नुकसान पहुँच रहा है, साहित्यकार को ऐसे कार्यक्रमों का विरोध करना चाहिए और अपने विरोध को साहित्य की विभिन्न विधाओं के द्वारा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करना चाहिए, और यदि संभव हो सके तो आम जनता के द्वारा चलाये गये सरकार-विरोधी आन्दोलनों में सम्मिलित होना चाहिए और विरोध के स्वर को सशक्त रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। ऐसे विरोध का स्वर तभी साहित्य में स्थान पा सकने का अधिकारी हो सकता है, जब वह स्वर नारेबाजी से हटकर, कोरी पत्रकारिता से बचकर जनता के जी की बातों का गहराई से इस तरह उद्‌घाटन करे कि वह पढ़नेवाले के मन और मस्तिष्क को उद्‌वेलित कर सके और पढ़नेवाला जनता को अपना सक्रिय सहयोग देने के लिए तत्पर हो सके। देखा यह जाता है कि हममें से बहुत-से या थोड़े-से साहित्यकार जो ऐसा प्रयास करते भी हैं तो उनका प्रयास केवल अंगारे उछालने के समान होता है और अगर उसे कहना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि वह आक्रोश का क्षणभंगुर आवेग होता है, जो जनता के मन और प्राण को थोड़ी देर गरमाहट देकर ही फिर टूटते रहने के लिए छोड़ देता है। ऐसे आक्रोशी या अग्निमुखी लेखन से साहित्य को स्थायी महत्त्व नहीं मिल सकता। वह निश्चय ही कुछ ही दिनों में अपनी मौत मर

जाता है। साहित्य में अग्नि-रेखाएँ खींचते रहने से सरकार को या उसके शासन को जनता के पक्ष में नहीं किया जा सकता। इसके अलावा ऐसा आक्रोशी लेखन प्रत्येक लेखक कर भी नहीं सकता। इसलिए विवेक की बात यही होगी कि साहित्यकार ऐसे दृष्टिकोण से जनता के मन की वह बात साहित्य में उतारे जो उसे जनता से अधिक जोड़े और सरकार से एकदम काट न दे। हिन्दी के युवा लेखक इस बात से असहमत दिखाई पड़ते हैं। वह लोग ऐसी बात को सुनने के लिए भी तैयार नहीं हैं। वह तो सक्रिय रूप से समरसूर का बाना पहनकर सरकार से मोर्चा लेने के लिए कटिबद्ध से दिखते हैं। उनके इस उत्साह की प्रशंसा की जा सकती है, लेकिन गंभीरता से विचार करने पर यही कहना पड़ेगा कि उनका आक्रोश विध्वंसक भले ही हो जाय, रचनात्मक नहीं हो सकता। परिणाम भी इसका कोई अच्छा नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति आ सकती है कि जनता ही उसके आक्रोश की ऐसी बातें सुनते-सुनते उसकी आदी हो जाय और उसका कोई प्रभाव ऐसा न हो सके कि वह नये समाज की रचना में कोई योग दे सके और आमआदमी भी केवल पटाखा बनकर रह जाय। ऐसी बातों से सामाजिक क्रान्ति या वैचारिक क्रान्ति कभी भी हो सके, इसकी संभावना कम ही रहती है। जनता तो परिणाम देखकर अच्छे-बुरे का अन्दाजा लगाती है। इसलिए यह मसला बहुत गंभीरता से विचार करने का है और इसपर बड़े ठंडे दिमाग से सहमत या असहमत होने का है। साहित्यकार अगर नागरिक की हैसियत से अपना अधिकांश फालतू समय अपनी रचना में न लगाकर केवल आन्दोलनों में सक्रिय रूप से लगा दे, तो वैसी सूरत में वह मात्र राजनीतिक कार्यकर्त्ता भर रह जायेगा और साहित्य का सृजनकर्त्ता नहीं रहेगा। आज के युग में साहित्यकार के लिए यह समस्या सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौती को सहज ही स्वीकार भी नहीं किया जा सकता और न ही सहजभाव से अस्वीकार भी किया जा सकता है। इसके कई कारण हैं। सबसे प्रमुख कारण यह है कि जो साहित्यकार किसी दल विशेष की राजनीति से एकदम जुड़ा है अथवा किसी दल का सक्रिय सदस्य है, वह साहित्यकार तो इस चुनौती को स्वीकार कर सकता है, लेकिन वह साहित्यकार जो किसी दल-विशेष का सदस्य नहीं है या दल-विशेष से सक्रिय रूप से जुड़ा नहीं है वह स्वभावत: इस चुनौती को स्वीकार करने में अपने को अक्षम ही पायेगा। मध्यमवर्गीय जीवन जीनेवाला पढ़ा-लिखा प्रबुद्ध नागरिक साहित्यकार जो राजनीति से बच-बच कर किसी तरह जीवन-यापन करता है और साहित्य को साधना के रूप में ग्रहण किये हुए है और सृजन करने का अभ्यासी है वह साहित्यकार सरकार की असमाजवादी गतियों से क्षुब्ध होकर भी, संत्रस्त होकर भी, इस हदतक नहीं जायेगा कि वह अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता को खतरे में डाल दे और शासन के प्रतिरोध में खड़ा हो जाये। क्या हम अन्य साहित्यकार ऐसे साहित्यकारों को अपने बीच से खदेड़कर अकेले ही जीने-मरने के लिए छोड़ दें? यदि वह लोग अन्य साहित्यकारों के संगठन से बहिष्कृत कर दिये गये तो निश्चय ही कुछ दिनों में वैसे साहित्यकारों की संख्या अधिक हो जायेगी और उनकी अपनी एक अलग बिरादरी बन जायेगी, जो अपने लेखन को यत्र-तत्र प्रकाशित करने लगेंगे और वैसी दशा में आक्रोशी साहित्यकारों की संख्या कम होती चली जायेगी और वह भी जनता से

अलग हो जायेंगे और अपने व्यक्तित्व में ही जीने-मरने के लिए विवश हो जायेंगे। यही वे सब बातें हैं जिनपर हमसब को खुले दिमाग से सोच-विचार करना चाहिए और तब कोई निर्णय लेना चाहिए कि लेखक का ऐसे परिवेश में कितना उत्तरदायित्व है और वह उस उत्तरदायित्व को कितना निबाह सकता है और कहाँतक एक लेखक दूसरे लेखक से जुड़ा रह सकता है, ताकि लेखकों की बिरादरी न तो जनता से बहिष्कृत हो सके और न सरकार के कोप का भाजन बन सके। हरएक लेखक, चाहे वह आग उगलनेवाला समर्थ लेखक हो अथवा मध्यमवर्गीय संकुचितकाय शिल्प के माध्यम से उसी बात को कुछ बचाकर कहनेवाला लेखक हो, दोनों ही रचनाधर्मिता से जनता के लिए ही, जनता की ही बात कहते हैं। लेकिन दोनों के कहने में अन्तर हो जाता है। क्या इस अन्तर की हमसब लेखक उपेक्षा कर सकते हैं और क्या हमें उसकी उपेक्षा करनी ही चाहिए? यदि इसे विवेक से सोचा जाये तो यह कहना उचित होगा कि हरएक लेखक को इतनी स्वतंत्रता तो होनी ही चाहिए कि वह जनता के कथ्य को अपने शिल्प से कहे और बिना कहे न रहे। साहित्यकारों का संगठन इसलिए नहीं बनता कि एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार के लेखन पर प्रतिबंध लगा दे, जैसे कि सरकार लगा सकने में सक्षम रहा करती है। साहित्य का विकास किसी एक सीधी रेखा पर चल कर नहीं होता। साहित्य भी द्वन्द्व की स्थितियों से होता हुआ बनता-बिगड़ता है। इसीलिए साहित्य का सृजन मनुष्य के मन और मस्तिष्क के व्यापक क्षेत्र में ही होना चाहिए। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई भी लेखक सरकार से बचने के लिए ऐसे साहित्य का सृजन करे जो केवल उसी का अहंवादी या वैयक्तिक सृजनमात्र हो जाये। मध्यमवर्गीय प्रबुद्ध साहित्यकारों की रचनाधर्मिता बहुधा सरकार के भय से या परिवेश-विशेष से प्रभावित हो कर ऐसी होती देखी गयी है, जो पहले चरण में तो कुछ-न-कुछ जन-जीवन से जुड़ी रहती है और किसी-न-किसी रूप में जनता के जीवन की कुछ-न-कुछ बात व्यक्त करती रहती है। मगर जैसे-जैसे समय बीतता जाता है और वे साहित्यकार अपनी रचनाधर्मिता के कारण साहित्य में अपना कुछ-न-कुछ स्थान बना लेते हैं, तब उनकी वही रचनाधर्मिता अपना पहले का रूप खो देती है और उसका ऐसा गुणात्मक रूप-परिवर्तन हो जाता है कि वह रचनाधर्मिता सबसे असंबद्ध अन्तरमन की मनोवैज्ञानिक कृतियाँ प्रस्तुत करने लगती है अथवा अपने रचनाकार की उस मनःस्थिति को व्यक्त करने लगती है, जिस मनःस्थिति में पहुँचकर उसका रचनाकार एकदम आदिम अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ वह निहंग रहता है और निहंग ही मरता है। एक और प्रकार के मध्यमवर्गीय प्रबुद्ध लेखक होते देखे गये हैं। वे हैं वे लोग जो समाजवादी न होकर या तो कोरे आदर्शवादी हैं या प्रतिगामी शक्तियों के समर्थक प्रतिक्रियावादी हैं। इन लेखकों की रचनाधर्मिता भी किसी प्रकार से प्रगतिशील नहीं कही जा सकती। ऐसे लेखकों को प्रगतिशील संगठन में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। आदर्श पुराने पड़ गये हैं। पुराने आदर्शों से देश की और युग की समस्याएँ इसलिए हल नहीं की जा सकतीं, क्योंकि आदर्श एक ऐसे धरातल से समस्याओं को देखने और समझने की बात बताते हैं, जहाँ आज के संत्रस्त जन, प्रयास करके भी नहीं पहुँच सकते। वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहता है

कि समस्याओं से ही समस्याओं का हल निकाला जाना चाहिए। अब कोरा आदर्शवाद कहीं भी किसी समस्या को हलकर सकने में असमर्थ हो चुका है। आज का युवक न तो युधिष्ठिर बनकर जीना चाहता है,न बुद्ध बनकर जीना चाहता है, न हनुमान बनकर जीना चाहता है। उसे जीवन जीने के लिए अब उनसब सुविधाओं की आवश्यकता है, जिन्हें प्राप्त करना ही उसका धर्म हो गया है और वह सुविधाएँ रोटी-रोजी, दवा-दारू, घर-बखरी आदि की हैं। आज के युवक को यह सुविधाएँ नहीं प्राप्त हो रही हैं। वह इनके बगैर जी नहीं सकता। तभी अब आज के युग में समस्याओं के निराकरण के लिए योजनाएँ-पर-योजनाएँ बनायी जा रही हैं, ताकि क्षोभ और संत्रास मिटे और जीवन जीने में सार्थकता दिखे। इसी तरह देश में जातिवाद, अन्धराष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता, छुआ-छूत, श्रम-शोषण, जोर-जबर, नारियों का दमन आदि-आदि प्रचलित हैं। बहुत-से लेखक अब भी इनसे जुड़े हैं और इनके समर्थन में बहुत-कुछ लिखा करते हैं। यही लोग अतीत की ओर भी जाते हैं और वर्तमान में उस अतीत के इन्हीं रूपों को प्रस्तुत करते हैं, जो प्रतिगामी होते हैं। इसलिए ऐसे साहित्यकारों को प्रगतिशील साहित्यकारों के संगठन में नहीं लिया जा सकता। प्रगतिशील साहित्यकारों को इनके लेखन के विरोध में कसकर लिखना चाहिए और इतना अधिक लिखना चाहिए कि जिससे इनके लेखन को दब जाना पड़े और वह जनता की दृष्टि में अपने असली प्रतिगामी रूप को छिपा न सके, वरन् वह वहाँ तिरष्कृत हो जाय। यह काम भी कोई छोटा अथवा महत्त्वहीन काम नहीं हैं। इसे करने में प्रगतिशील साहित्यकारों को काफी श्रम और शक्ति लगानी पड़ेगी। यह सम्मेलन यदि इस ओर हमसब लेखकों को ले जा सके तो इसकी यह एक बहुत बड़ी सार्थकता होगी।

आज के लिखित साहित्य का अधिकांश ऐसा होता है जो आम पाठकों के पल्ले नहीं पड़ता। इस समस्या की ओर भी हम लेखकों का ध्यान अवश्य जाना चाहिए। हम मानें या न मानें यह तो सच है कि साहित्य केवल साहित्यकार के लिए ही नहीं होता, वरन् दूसरों के लिए भी होता है। जब वह लेखक की अपनी वस्तुवत्तीय इकाई बनकर मुद्रित और प्रकाशित होता है, तब वही दूसरों की वस्तुवत्तीय इकाई हो जाता है। इसी वस्तुवत्तीय इकाई में दूसरों को व्याप्ति मिलती है। लेखक की वह आत्मवत्ता जो बाहर के संसार की वस्तुवत्ता से संबद्ध और सम्पृक्त हो चुकी होती है और भाषा में निबद्ध हो चुकी होती है, इसी व्यक्त आत्मवत्ता के लिखित वस्तु वृत्तीय रूप को तो पाठकों को ग्रहण करना पड़ता है। इसे ग्रहण करके ही तो पाठकगण उसी व्यक्त आत्मवत्ता के वस्तुवत्तीय रूप से अभिभूत होता है और उसीसे सम्बद्ध और सम्पृक्त होता है। रचना का यही है वह लिखित रूप जो साहित्य होता है। रचना की यही साहित्यिकता, यही क्षमता—अनेकानेक मानवीय गुणों और मूल्यों को उजागर करती रहती है और आदमी से आदमी को जोड़ती हुई देश और काल को प्रभावित करती हुई आगे चली जाती है और तब जाकर कहीं रक्षणीय सांस्कृतिक इकाई बन जाती है। इसीलिए वे सभी रचनाएँ जो मानवीय गुणों और मूल्यों को अपने में समोये बिना ही आजकल मुद्रित और प्रकाशित

होती हैं, अपने पाठकों द्वारा नहीं अपनायी जातीं और कुछ ही दिनों के बाद धुआँ बनकर हवा में उड़ जाती हैं। इस ठोस सत्य को हम लेखकों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इस सत्य को सही मानकर ही हम लेखकों को अपनी रचना-प्रक्रिया चालू रखनी चाहिए, तभी तो यह संभव हो सकेगा कि निकट भविष्य में लेखक और पाठक के बीच की वह दूरी मिटाई जा सके। और कोई दूसरा उपचार इस दूरी के दूर करने का नजर नहीं आता। यह परिणति कि लेखक स्वयं से भी अजनबी बन जाय, पाठकों से भी अजनबी बन जाय, और उसकी रचनाएँ सबके लिए अजनबी मोनोग्राफ बन जायँ, जिन्हें न कोई समझ सके, न कोई ग्रहण कर सके—निश्चय ही न हम लेखकों के हित में है—न हमारे देश-काल के हित में है—न हमारी जनता, सभ्यता और संस्कृति के हित में है। ऐसी रचनाओं का स्रोत चाहे दार्शनिक सिद्धान्त में हो—चाहे मनोविज्ञान में हो—उस स्रोत की वजह से ऐसी रचनाओं को महत्ता नहीं मिल सकती है। रचनात्मक साहित्य को तो जीवन की अभिव्यक्ति होना ही पड़ेगा। जीवन से विमुख रचनाएँ कभी भी साहित्य नहीं हो सकतीं। इसलिए हमसब लेखकों को फिर से इस दृष्टिकोण से आत्मनिरीक्षण करना चाहिए—फिर से अपनी पिछली रचनाओं को परखना चाहिए—और अपनी आगे की रचना-प्रक्रिया को नये तरीके से नई दिशा देनी चाहिए। पिछले दौर में लेखकों ने ऐसा नहीं किया। तभी तो हम लेखकों का अधिकांश साहित्य जी नहीं सका है और जनता ने उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया है। इस सम्मेलन की सार्थकता तभी प्रमाणित होगी, जब हम इस दृष्टि से सृजन के क्षेत्र में कार्यरत होंगे।

दक्षिण और वामवृत्ति से मेरा अभिप्राय प्रगतिशील लेखन की ही इन दो वृत्तियों से है। लिखे गये साहित्य में भी स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। दक्षिण वृत्ति का साहित्य देश की परिवेश की तीव्र संवेदनशील प्रक्रिया को व्यक्त नहीं करता है। वह या तो कभी-कभी परिवेश की छोटी-मोटी झलकियाँ दे देता है या तो शिष्ट और संयमित शब्दावली में उसका बिम्बन कर देता है। यह भी होते देखा गया है कि वह कभी-कभी समझौतापरस्ती से ग्रसित हो गया है। ऐसे साहित्य के शिल्प में परम्परित शिल्प के भी लक्षण मिलते देखे गये हैं। इसी वजह से दक्षिण वृत्ति का साहित्य ढीला पड़ गया और वह आज के जीवन के सार्वजनिक तनाव को व्यक्त करने में अशक्त दिखता है। इसके विपरीत वामवृत्ति के साहित्य में देश के परिवेश की तीव्र प्रक्रिया व्यक्त हुई है। लेकिन ऐसे साहित्य का स्वभाव और स्वर ऐसा विद्रोही हो गया है कि आम पाठक को इससे विचारों की गरमाहट तो मिल जाती, मगर इससे उसकी कलात्मक अभिरुचि संतुष्ट नहीं होती। इसे भी पढ़कर अथवा बिना पढ़े ही आम जनता फेंक देती है। ऐसी दशा में हम लेखकों को अब गम्भीरता से इस समस्या पर भी विचार करना जरूरी हो गया है। हम लोग सोचें कि दोनों वृत्ति के साहित्य के सृजन में जो रचनात्मक गलतियाँ हुई हैं, वह गलतियाँ क्या हैं और कैसी हैं और किसलिए हुई हैं? हम लोग यह भी सोचें कि अब उन गलतियों को न होने दिया जाय। अलावा इसके यह भी देखना होगा कि आज के परिवेश को व्यक्त करने के लिए दोनों वृत्तियों के साहित्य के शिल्प के वे कौन-से तत्व

हैं, जिनको लिये रहकर आगे बढ़ा जा सकता है और जिनको छोड़कर कोई नुकसान नहीं उठाया जा सकता है। यह अत्यन्त जटिल समस्या है। इसका हल खोजना ही पड़ेगा। दोनों वृत्ति के साहित्यकारों को मिलकर सही दिमाग से निर्णय लेना पड़ेगा। बिना ऐसा किये दोनों वृत्तियों के साहित्यकारों का मेल-मिलाप नहीं हो सकता। यदि दोनों वृत्तियों के साहित्यकार फुट-फैल रहकर एक-दूसरे को नकारते रह गये तो यह लक्षण अपने साहित्य के सृजन के लिए अशुभ ही होगा। इससे साहित्यकारों में एकता नहीं आ सकेगी और बिना एकता को सुदृढ़ किये हुए साहित्य के सम्पूर्ण सृजन को सार्वजनिक हित में नियोजित करना सहज नहीं होगा। यह सम्मेलन दोनों वृत्तियों के साहित्यकारों को निकट लाने का मंच बन सके तो यह इसकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

इधर हाल में पत्र-पत्रिकाओं के देखने से एक और समस्या सामने आई है। ऐसा मालूम होता है कि परिस्थितिवश अब नये विचार के लेखक यह आवश्यक नहीं समझते कि उसमें कलाप्रियता या सौन्दर्यप्रियता रहे। नये हाल के साहित्य में बिम्ब-विधान भी त्याग दिया गया है। इसमें सपाटबयानी, पत्रकारिता और गद्यात्मकता ही पाई जाती है। कहा यह जाता है कि साहित्य के वे सब मानदण्ड अब आज के युग में निष्प्राण हो चुके हैं, जो पहले उसे सुन्दर और कलात्मक बनाते थे। यह भी कहा जाता है कि सौन्दर्य और कला के वे तत्त्व साहित्य के स्थायी तत्त्व नहीं हैं और वे तत्त्व पिछली सामन्ती सभ्यता और संस्कृति की देन हैं। इसलिए अब आज के सृजन के लिए वे अपरिहार्य नहीं रहे। यही बात दूसरे तरीके से भी यों कही जाती है कि आज की सृजनशीलता भाषा की पिछली बनावटी बुनावट की कैद में रहकर आज के जीवन की जटिलता को व्यक्त नहीं कर सकती। इसीलिए आज की सृजनशीलता उस कैद से बाहर निकलकर आज की गद्यात्मक भाषा का प्रयोग करे। यह बात पूर्ण सत्य नहीं है, वरन् अर्द्धसत्य है। कविता बिल्कुल गद्य होकर वह काम नहीं कर सकती और इतनी क्षमता से नहीं कर सकती। जो काम वह गद्य से दूर रहते हुए अपनी कलात्मक लय से पूरा कर सकती है। कविता में बिम्ब-विधान भी होना ही चाहिए अन्यथा वह आदमी के मन पर प्रभाव नहीं डाल सकती और टिकाऊ नहीं बन सकती। इसलिए कविता को लय और बिम्ब-विधान से लैस रखना पड़ेगा। उसकी लय और उसका बिम्ब-विधान ही कविता को अधिक संप्रेषणीय बनाता है और रचना को रुचिर बनाये रखता है। इस कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कथ्य कुछ न हो, कविता लय और बिम्बमात्र ही हो। जब भी जिस कवि ने इस बात का ध्यान नहीं रखा, तभी वह सशक्त के बजाय अशक्त कविता लिख सका है। जैसे और चीजें पुरानी पड़ती हैं और बेकार हो जाती हैं, वैसे ही लय भी पुरानी पड़ कर बेकार पड़ जाती है और बिम्ब-विधान भी पुराना पड़कर संवेदनशून्य हो जाता है। तभी पुरानी परंपरित लयों और पुराने बिम्ब-विधान में लिखी रचनाएँ अब आज के जीवित और जाग्रत आदमी की चेतना को उद्वेलित कर सकने में असमर्थ होती हैं। इसलिए हम लेखकों को पुरानी लयों को छोड़कर कविता में नई लयों को लाना चाहिए और पुराने बिम्ब-विधान को त्यागकर नये बिम्ब-विधान को ग्रहण करना चाहिए।

लेकिन यह नहीं होना चाहिए कि अधीर होकर हम लेखकगण जल्दबाजी में वही सबकुछ लिखते जायँ जो बिना लय का और बिना बिम्ब-विधान का हो। हम कवियों को ऐसा करने के लिए कि हम अच्छी कविताएँ लिख सकें। करना यही होगा कि धीरज से काम लें और कलात्मक कोटि की कविताएँ लिखें। इस सम्मेलन की सार्थकता इस समस्या से जुड़ी हुई है। इस समस्या के निराकरण के बिना यह सम्मेलन सफल नहीं हो सकता।

इस सम्मेलन के संयोजकों ने लगभग सभी विचारधाराओं के प्रगतिशील लेखकों को आमंत्रित किया है। उन्हें बुलाने का उद्देश्य यही रहा है कि वे सब आयें और इनसब समस्याओं पर विचार करें और निर्णय लें कि जिससे आज के समस्त साहित्य का सृजन दूसरों के लिए अर्थवन्त हो सके और वह जन-जीवन से सम्बद्ध होकर उसकी प्रगतिशीलता को सही तौर से व्यक्त कर सके।

जहाँतक लेखकों के एक संगठन में बँधने की बात है, यह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जबतक लेखकों का अपना एक व्यापक संगठन नहीं होगा, तब तक लेखक इस बात के लिए विवश रहेगा कि वह प्रताड़ित होता रहे और एकाकी जीवन जीता रहे। हम लेखक चाहे दक्षिणपंथी हों याकि वामपंथी हों एक-दूसरे से अलग रहकर अलग-अलग इकाइयों के रूप में जीकर सशक्त और समर्थ साहित्य की सर्जना नहीं कर सकते और न ही शोषित होने से बच सकते हैं। संगठित होकर ही हमसब लेखक अपने लेखन को प्रभावशाली बना सकते हैं और संगठित होकर ही हम लेखक लोग एक सहकारी प्रकाशन संस्थान भी बना सकते हैं, जहाँ से हमारी रचनाएँ या तो पुस्तकों के रूप में या पत्रिकाओं के रूप में प्रकाशित हों और हम लोग उन्हें अपने संगठन की शाखाओं के द्वारा जनता तक पहुँचायें। यदि ऐसा न किया गया तो प्रगतिशील साहित्य की धारा पतनशील साहित्य की रेती में दबकर खो जायेगी और हम लेखक लोग भी आनेवाली पीढ़ी के आक्रोश के निशाने बन जायेंगे और भविष्य हमें क्षमा नहीं कर सकेगा।

पिछले वर्षों में अनेकानेक छोटी पत्रिकाओं के प्रकाशन ने साहित्य की सर्जना में सक्रिय सहयोग दिया है। लेकिन एक केन्द्रीय संगठन के अभाव में वह अपना काम पूरे बल और वेग से नहीं कर सकीं। उनके प्रकाशन में तरह-तरह की अड़चनें आती रही हैं। उनको आर्थिक अभाव का भी सामना करना पड़ता रहा है। इन छोटी पत्रिकाओं की समस्याओं को भी हम लेखकों को देखना और समझना चाहिए और इन पर गौर से विचार करना चाहिए। यदि इन्हें भी अकेले छोड़ दिया गया तो वे भी कुछ दिन जीकर मर जायेंगी और उनके द्वारा सम्पन्न हो रहा काम ठप्प हो जायेगा। परन्तु इन पत्रिकाओं को कैसे एकसूत्र या एकरूप में बाँधा जाय या पिरोया जाय, यह बातचीत के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। हमसब लेखकों को बड़े धैर्य के साथ इनकी समस्याओं को सुनना और समझना चाहिए और उनका ऐसा हल निकालना चाहिए , जो उनके प्रकाशकों को और सम्पादकों को मान्य हो सके।

❐

केदारनाथ अग्रवाल
का रचना संसार